बीसलदेव रास

[एक गवेषणा]

सीताराम शास्त्री

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : २०००, १९६३

मूल्य : [illegible]) रु० 10/

मुद्रक

सरयू प्रसाद पाण्डेय

नागरी प्रेस, दारागंज

इलाहाबाद

प्रकाशकीय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद से "बीसलदेव रास : एक गवेषणा" नामक इस पुस्तक के प्रकाशन के पीछे एक विशेष प्रयोजन निहित है। आदिकाल के इस महत्त्वपूर्ण काव्य के पाठ तो अनेक मिलते हैं किन्तु इसकी खोजपरक समीक्षा एक स्थान पर नहीं प्राप्त होती। विद्वानों का ध्यान बार-बार इस काव्य-ग्रन्थ पर गया है और उतनी ही बार इस पर विचार हुआ है। इस पुस्तक के लेखक श्री सीताराम शास्त्री को इसका श्रेय है कि इन्होंने "बीसलदेव रास" सम्बन्धी समस्त मतमतान्तरों को ग्रहण करने के पश्चात् बहुत ही स्पष्ट शब्दों में अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत किया है। "रास" तथा "रासो" शब्द की अन्तर्व्याख्या, काव्य में वर्णित चरित्रों की ऐतिहासिकता, काव्य रचयिता नरपति नाल्ह की काव्यजनित सौन्दर्यानुभूति, निवेदन, वेदना और आत्मानन्द आदि की सांगोपांग विवेचना इस पुस्तक में प्राप्य है। विश्वास है कि इस गवेषणापूर्ण पुस्तक से विद्वानों को तो सन्तोष होगा ही, साथ ही विशेष रूप से साहित्य के विद्यार्थियों को अनन्य लाभ होगा।

जनवरी, १९६३
हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

विद्या भास्कर
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

विजय दशमी के पावन पर्व पर

मान्यविद्वद्वर

डॉ० माताप्रसाद जी गुप्त, एम० ए०, डी० लिट् की

सेवा में --

त्वदीयं वस्तु गोविन्द,
तुभ्यमेव समर्पये ।

सीताराम शास्त्री

विषय-संकेत

बीसलदेव रास

बीसलदेव रास : एक गवेषणा

'बीसलदेव रास' वास्तव में हिन्दी साहित्य के प्राचीनतम साहित्य में एक गवेषणा की वस्तु ही माना जाना चाहिए, यों इसकी जानकारी पुरानी है। मिश्रबंधु, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने जब हिन्दी साहित्य का प्रामाणिक इतिहास लिखा था, उसी समय से हिन्दो-जगत् को इस ग्रन्थ का परिचय है। हाँ, ग्रियर्सन ने अपने 'हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास' में इसकी चर्चा नहीं की है। हो सकता है तब तक यह ग्रन्थ उनकी निगाह में न आया हो। अस्तु, तब से अद्यावधि इस ग्रन्थ पर अनेक विचारक कुछ न कुछ प्रकाश डालते आ रहे हैं। एक ओर साहित्य के इतिहासकारों ने उपलब्ध ग्रन्थ-रूप और अन्य सामग्री के आधार पर इसका परिचय दिया है और दूसरी ओर इस ग्रन्थ पर मौलिक शोध करने वाले सम्पादकों द्वारा इस पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। इतिहासकारों ने ग्रन्थ में आये हुए नामों, स्थानों और तिथियों के ऐतिहासिक निर्णय को छोड़कर उसकी अन्य गरिमा पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। इस ग्रन्थ पर मौलिक अध्ययन और सम्पादन करने वालों में श्री सत्यजीवन वर्मा और डॉ० माताप्रसाद गुप्त ही वरिष्ठ हैं। इन्होंने एक ओर ग्रन्थ पर ऐतिहासिकता पूर्ण विचार प्रस्तुत किया है और दूसरी ओर ग्रन्थ की भाषा और साहित्यिक गरिमा एवं उपयोगिता पर मौलिक उद्भावनाएँ व्यक्त की हैं। अन्त में निष्कर्ष रूप में दोनों ने भिन्न-भिन्न आधारों पर इसके महत्त्व और उपयोगिता का परिचय इस प्रकार दिया है:—श्री सत्यजीवन वर्मा अपने सम्पादित 'बीसलदेव रासो' की भूमिका में लिखते हैं—"इस ग्रन्थ की साहित्यिक उपयोगिता का कारण यह है कि यह साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। पर इसका विशेष साहित्यिक मूल्य नहीं है, क्योंकि इस दृष्टि से यह ग्रन्थ उच्चकोटि का नहीं है। ऐतिहासिक मूल्य भी इस ग्रन्थ का उतना

नहीं कहा जा सकता; क्योंकि न तो यह किसी इतिहास लेखक द्वारा ही प्रणीत हुआ है और न इतिहास की दृष्टि से ही उसका निर्माण हुआ है। इस ग्रन्थ का यदि किसी प्रकार अमूल्य उपयोग हो सकता है तो भाषा-विज्ञान की दृष्टि से। हिन्दी साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ होने के अतिरिक्त यह ग्रन्थ इस बात का प्रमाण है कि १२वीं शताब्दी में भारतवर्ष में हिन्दी भाषा का भलो भाँति प्रचार था और वह सर्वसाधारण की भाषा थी। सर्वसाधारण की भाषा होने के अतिरिक्त वह साहित्य की भाषा होने का प्रयत्न कर रही थी। इस प्रयत्न में भाट और चारणगण उसके विशेष सहायक थे।' डॉ० माताप्रसाद गुप्त अपने सम्पादित 'बीसलदेव रास' की भूमिका में लिखते हैं—"यद्यपि रचना में कोई महानता नहीं है, किन्तु जीवन की यथार्थता सरलतम रूप में व्यंजित हो सकी है। पुनः साहित्य में न हमें दूसरी राजमती मिलती है और न दूसरा बीसलदेव ही मिलता है, और इसी में 'बोसलदेव रास' के कवि की सबसे बड़ी सफलता निहित है।...'बीसलदेव रास अपने ढङ्ग की एक ही रचना है और इसका कवि भी अपने ढंग का अकेला ही है।' सम्प्रति विवेच्य ग्रन्थ के सम्बन्ध में स्पष्ट ही इन दोनों समालोचकों के विचार भिन्न हैं। प्रथम ने केवल भाषा की गरिमा दिखाई है और दूसरे ने विषयवस्तु की महत्ता सिद्ध की है। ऐसा क्यों ? इस का उत्तर अगले विवेचन में मिलेगा।

अस्तु; निस्सन्देह आज बीसलदेव रास जिस रूप में प्राप्त है वह हर दृष्टि से हिन्दी-काव्य का एक गौरव ग्रन्थ है, इसमें द्विधामत नहीं हो सकता। इसी कारण मैंने इसे 'बीसलदेव रास : एक गवेषणा' कहा है। गवेषणा एक परिभाषिक शब्द है। यह शब्द किसी खोई हुई वस्तु को खोज निकालने या ढूँढने अथवा अप्रकाशित को प्रकाशित करने के लिए प्रायः प्रयोग किया जाता है। अंग्रेजी में इसे Investigation अथवा Search कहते हैं। बीसल रास को, जो कि बहुत पूर्व से ही प्राप्त है, एक गवेषणा कहना कहाँ तक युक्तिसंगत होगा, यह एक प्रश्न-चिह्न बन सकता है। मेरे इस गवेषणा कहने में रहस्य यह कि आज डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'बीसलदेव रास' का जो रूप हमारे सम्मुख है, वह अपनी पूर्व परम्परा में नितान्त भिन्न है। मैं तो कहूँगा वह द्विज बन गया है। यदि श्री सत्यजीवन वर्मा द्वारा सम्पादित और डॉ० माता-प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित बीसलदेव रास को तुलना करके देखें तो किसी को अनायास विश्वास न होगा कि ये दोनों ग्रन्थ एक ही हैं।

प्रथम तो दोनों के नामों में ही थोड़ी भिन्नता है, वर्मा जी ने 'बीसलदेव-रासो' लिखा है तो गुप्त जी ने 'बीसलदेव रास' लिखा है। वर्मा जी का रासो चार सर्ग और ३१६ छन्दोंवाला पोथा है; गुप्तजी ने तो सर्ग माने ही नहीं हैं। उनका 'रास' तो केवल १२८ छन्दोंवाला एक लघु ग्रन्थ मात्र रह गया है। फिर भी उसकी गरिमा पर किसी प्रकार की आँच नहीं आ पाई है। वरन् उल्टे उसमें चार चाँद लग गये हैं। इसी लिए मैं उसे 'एक गवेषणा' कहता हूँ।

ठीक है, मैंने उसे 'एक गवेषणा' कहा, और आपने मान भी लिया। साथ ही आपका यह प्रश्न करना भी स्वाभाविक होगा कि एक बृहद् ग्रन्थ एक लघु ग्रन्थ रूप में कैसे परिवर्तित हो गया? इसी जिज्ञासा के शमन के लिए मैं आगे इस ग्रन्थ के विषय में विविध पक्षों पर प्रकाश डालूँगा। यह विवेचन वस्तुतः एक ऐसा विकासमूलक इतिहास होगा जिसमें ढलता हुआ बीसलदेव रास आज की परिस्थिति में आया है। यही उसकी गवेषणा समझिए। अगले विवेचन का क्रम इस प्रकार होगा :—

१—बीसलदेव रासो या बीसलदेव रास,
२—कथावस्तु में ऐतिहासिक साक्ष्य,
३—ग्रन्थ रचनाकाल और
४—सम्पादन।

१—बीसलदेव रासो या बीसलदेव रास

डॉ० माताप्रसाद गुप्त को छोड़ कर लगभग सभी ने विश्लेष्य ग्रन्थ का नाम 'बीसलदेव रासो' लिखा है। श्री गुप्त ने 'बीसलदेव रास' लिखा है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि 'रासो' या 'रास' लिखने में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। आखिर ये दोनों शब्द एक ही परम्परा के अंग तो हैं। मेरा अपना विचार है कि इस नाम भेद से ग्रन्थ के स्वरूप के प्रति दृष्टिकोण बदल सकता है। हाँ, यदि 'रासो' और 'रास' को समानार्थी मान लें तो कोई आपत्ति न होगी। सियाराम कहें या सीताराम, कोई खास अन्तर नहीं पड़ेगा। एक परम्परा से सम्बन्धित मानते हुए भी यदि हम दोनों शब्दों को भिन्नार्थ वाले स्वीकार करते हैं, तो एक ग्रन्थ के दो नाम रखना, एक साधारण व्यक्ति भी अनुचित कहेगा। अब प्रश्न यह है कि क्या रासो और रास समानार्थी हैं? रासो परम्परा पर आज तक पर्याप्त विचार किया गया है। किन्तु रासो और रास की भिन्नता प्रकाशित करने की दृष्टि से किसी ने रासो परम्परा का

विभाजन नहीं दिखाया है। एक मात्र डॉ० माताप्रसाद गुप्त ऐसे शोधक हैं जिन्होंने अपनी नूतन खोजों के आधार पर रासो परम्परा पर एक नया प्रकाश डाला है। और अपनी इस खोज के अन्तर्गत उन्होंने 'रासो' और 'रास' के अलग-अलग उद्भव और भिन्न-भिन्न परम्पराओं का दिग्दर्शन कराते हुए इनके भिन्नार्थ का उद्घाटन किया है। हाँ, अन्य विचारक भी लगभग वही बात कहते हैं जिसे डॉ० माताप्रसाद गुप्त कहते हैं। लेकिन उनमें स्पष्ट तथ्यों का विभाजन नहीं हो पाया है; जिससे कि रासो, रासक, रास, रसायन, रासा, रासाबंध आदि शब्दों का स्पष्टीकरण हो सके। उदाहरण के लिए एक-दो विचारकों का विश्लेषण देखिए:—

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं[1]—"पृथ्वीराज रासो चरित काव्य है ही, वह रासो या रासक काव्य भी है। हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में 'रासक' को गेय रूपक माना है:—

गेयं डोम्बिका भाण प्रस्थानशिङ्गक भाणिका प्रेरणराका
क्रीड़ हल्लीसकरासक गोष्ठी श्रीगदितराग काव्यादि।

ये गेय रूपक तीन प्रकार के होते थे—मसृण अर्थात् कोमल, उद्धत, और मिश्र। रासक मिश्र गेय रूपक है।" अर्थात् रासक में मसृण और उद्धत शैली का मेल है। आगे 'रासो' शब्द के अर्थविस्तार के सम्बन्ध में द्विवेदी जी लिखते हैं[2]—जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरित काव्य लिखे गये, रूपक नाम देकर चरित काव्य लिखे गये, प्रकाश नाम देकर चरित काव्य लिखे गये, उसी प्रकार 'रासो' या 'रासक' नाम देकर भी चरित-काव्य लिखे गये। जब इन काव्यों के लेखक इन शब्दों का व्यवहार करते होंगे तो अवश्य ही उनके मन में कुछ विशिष्ट काव्य रूप रहता होगा। राजपुताने के डिंगल साहित्य में परवर्ती काल में ये शब्द साधारण चरित काव्य के समानान्तर हो गये हैं। बहुत से चरित काव्यों से साथ 'रासो' नाम जुड़ा मिलता है, जैसे- रायमल रासो, राणा रासो, सगतसिंह रासो, रतन रासो इत्यादि।" इस प्रकार द्विवेदीजी ने रासो को रासक के समानान्तर कहा है। रासो की उन्होंने दो विशेषताएँ बताई हैं—रासो वस्तुतः अपने प्राचीन मौलिक रूप में एक गेय रूपक था, जिसमें कोमल और उद्धत दोनों वृत्तियों का समावेश था। परवर्ती काल में 'रासो' एक रूपक से हट कर चरित काव्य परम्परा का नाम हुआ। अतः स्वभावतः 'रासो' या 'रासक' वीर रस प्रधान काव्य भी

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५६; २. वही, पृ० ६०।

हुए। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस सम्बन्ध में इस प्रकार अपने विचार व्यक्त किये हैं[1]—"आदिकाल से सम्बन्धित जो वीर गाथात्मक प्रतियाँ मिलती हैं, उन्हें 'रासो' कहा जाता है। तासी ने 'राजसूय' से, पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'रसायण' से, कुछ विद्वान् 'रहस्य' शब्द से 'रासो' शब्द की व्यत्पत्ति मानते हैं। बीसलदेव रासो में 'रसायण' शब्द आया है। 'रासो' का मूल शब्द 'रास' या 'रासक' है। 'रासक' का अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी में 'रासउ' शब्द हुआ। प्राचीन राजस्थानी में 'रास' या 'रासक' का अर्थ कथाकाव्य है। राजस्थानी और गुजराती में अनेक रास लिखे गये हैं। यह शब्द 'राइसौ' या 'रायसौ' रूप में भी मिलता है। रासो ग्रन्थों के सामान्य लक्षणों के सम्बन्ध में अभी खोज की आवश्यकता है। हिन्दी में सब से अधिक प्रसिद्ध 'रासो' ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो या बीसलदेव रासो हैं।" स्पष्ट है कि 'रासो' की व्युत्पत्ति के बारे में विभिन्न मत देते हुए भी डॉ० वार्ष्णेय को रासो परम्परा की स्पष्टता में सन्तोष नहीं है। इस बारे में वे और खोज करने की अपेक्षा रखते हैं। शेष बातों में वे श्री द्विवेदी के समान ही मान्यताएँ रखते हैं[2]—"प्राचीन ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में रासो नामक रचनाओं का नृत्यगीत से सम्बन्ध था। उनका रूप भी नृत्त के अनुसार सरल, सरस, लघु और एक बैठक में समाप्त होने वाला रहता था। सभी का एकमत है कि ये नृत्य प्रधान उपरूपक अनेक नर्तकियों की सहायता से अभिनीत होते थे। 'रासक' रचनाओं में वीर रस, शान्त रस और श्रृंगार रस प्रधान रहता था।" इस प्रकार परम्पराओं की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए डॉ० वार्ष्णेय आगे इस सम्बन्ध में नवीन खोजों का संकेत भी देते हैं[3]—"अपभ्रंश की 'रासो' कृतियों से एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि 'रासक' रचनाएँ रासक छन्द बद्ध रहती थीं। आगे चलकर छन्दों की विविधता 'रासक' रचनाओं की विशेषता हो गई। काव्य-धारा के रूप में डिंगल और पिंगल के वीर रसात्मक 'रासो' ग्रन्थों का विकास रास-नृत्य के उद्धत रूप से हुआ कहा जा सकता है। कालान्तर में दृश्य-नृत्य-काव्य के क्षेत्र से निकल कर 'रासो' ने श्रव्य-काव्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त की।"

इस प्रकार रासो परम्परा को वास्तविक रूप में देखने का आग्रह बढ़ता गया। जिसके लिए कठिन श्रम और सहिष्णुता तथा अध्ययन को

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५६। [2] वही, पृ० ५६; [3] वही, पृ० ५६।

आवश्यकता थी। इस कार्य को आज डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने सम्पन्न किया। इस सम्बन्ध में डॉ० गुप्त ने रासो ग्रन्थों पर जो मौलिक कार्य किया और उससे जो निष्कर्ष निकाला, वही रासो परम्परा के रहस्य के उद्घाटन का कारण बना। डॉ० गुप्त ने अपने अध्ययन द्वारा रासो परम्परा के सम्बन्ध में जो उद्भावनाएँ की हैं और जो स्थापनाएँ उन्होंने स्थापित कीं उसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है[1]—"हमारे साहित्य में रासो की दो अलग-अलग परम्पराएँ अपभ्रंश काल से ही मिलने लगती हैं। इनमें से एक परम्परा तो नृत्य-गीत-परक रासो की है, और दूसरी छन्द वैविध्य-परक रासो की है। पहली परम्परा में प्रधानता जैन धर्म सम्बन्धी कृतियों की है। बीसलदेव रास जैसी एकाध कृति को इस में अपवाद कहा जा सकता है। दूसरी परम्परा अन्य विषयों की कृतियों की रही है, जिसमें जैन धर्म सम्बन्धी कृतियाँ अपवाद के रूप में भी अभी तक नहीं मिली हैं। इस परम्परा की कृतियों में रचयिताओं का ध्यान काव्य-गुणों की ओर प्रमुख रूप से रहा है और उन्होंने विविध छन्दों का प्रयोग किया है।" इन्हीं दो विभाजनों को श्री गुप्त ने बहुरूपक निबद्ध परम्परा और अल्प रूपक निबद्ध परम्परा कहा है।[2] प्रथम परम्परा के अन्तर्गत उन्होंने पृथ्वीराज रासो, मुञ्जरास, हम्मीर रासो, परमाल रासौ, विजयपाल रासौ आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों को गिनाया है। और रासा या आहाणक आदि विविध छन्दों का प्रयोग, नारीहरण, युद्ध, विरहिणी प्रेमिका की मार्मिक कथाएँ, रचना के मूल में शुद्ध साहित्य की दृष्टि आदि विषय वैविध्य इस परम्परा की विशेषता बताई है। द्वितीय परम्परा के अन्तर्गत उपदेश रसायन, भरतेश्वर बाहुबली रास, बुद्धि रास, जीयदया रास, बीसलदेव रास आदि अनेक प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम गिनाते हुए श्री गुप्त ने जैन धर्मोपदेश, गीतिपरक छन्द विधान, सिद्धान्तों का उपदेश, एकाध अन्य छन्द को छोड़ कर चौपई और दोहा का अधिक प्रयोग, धार्मिक भावनाओं की प्रधानता, पर्वों पर संगीत-नृत्य के साथ प्रयोग आदि अनेक विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया है। इसमें बीसलदेव रास अपना एक अलग स्थान रखता है।

डॉ० गुप्त के इस विवेचन से रासो, रासक, रासा, रास, रसायन, रासाबंध आदि बहुचर्चित और सन्देहास्पद शब्दों का स्पष्टीकरण हो

---

1. हिन्दी साहित्य (स० धीरेन्द्र वर्मा) रासो काव्यधारा, पृ० ६६;

2. बीसलदेव रास, पृ० ६० ।

जाता है। इन सारे शब्दों को स्पष्ट दो भागों में विभाजित करते हुए उन्होंने लिखा है[१] "दोनों परम्पराओं को एक-दूसरे से अलग रखना ही उचित है। इसलिए अच्छा यह होगा कि हम उन्हें अलग-अलग नामों से अभिहित करें। बहुरूपक निबद्ध काव्य रूप को विरहांक ने रासक (∠ रासक) कहा है, स्वयंभू ने रासाबंध(∠रासक + बंध) कहा है, अब्दुल रहमान ने अपनी रचना को रासय (∠रासक) तथा भाषित होने वाले इस काव्य रूप को रासउ (∠रासकु∠रासक) कहा है; इस परम्परा की शेष रचनाएँ भी 'रासा' तथा 'रासउ' अथवा रासौ नामों से मिलती हैं। इसलिए इन्हें इन्हीं नामों से पुकारना चाहिए। दूसरी परम्परा की प्राय: रचनाएँ 'रास' और 'रसायन' नामों से मिलती हैं; अत: उन्हें 'रास' और 'रसायन' नामों से पुकारा जा सकता है।" फलत: 'रासो' और 'रास' दोनों अलग परम्पराओं से, भिन्न स्रोतों से सम्बन्धित होने से भिन्नार्थ द्योतक हैं। अत: ग्रन्थ का नाम 'बीसलदेव रासो' और 'बीसलदेव रास' कहने में भी उसकी कथावस्तु के सम्बन्ध में भी भिन्न दृष्टिकोण बनना अनिवार्य है। और उसकी कथावस्तु को देखते हुए, जैसा कि सभी ने एक स्वर से स्वीकार किया है—बीसलदेव रास प्रेम और शृंगार प्रधान काव्य है, उसे रासो कहना कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अपनी स्थापनाओं के आधार पर पूर्व बहुजन-चर्चित 'बीसलदेव रासो' को खण्डित कर 'बीसलदेव रास' को मान्यता दी। इन अपनी मान्यताओं में डॉ० गुप्त ने अनुमान या अटकल-बाजियों से काम नहीं लिया है। वे इन परम्पराओं के मूल में पहुँच कर उनके उद्भव को ही पकड़ते हैं[२]—प्रथम रासो परम्परा—"रासक एक अति प्राचीन भारतीय नृत्य रहा है। इसको लास्य का एक भेद मानते रहे हैं। शारदातनय (सं० १२९५–१३००) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाव प्रकाशन' में लिखा है कि लास्य के चार भेद होते हैं :—

तत्शृंखला लता पिण्डी भेद्यकैः स्यात् चतुर्विधम् ।

अर्थात् शृंखला, लता, पिण्डी और भेद्यक। लता के पुन: तीन भाग—

लता रासक नामस्यात्तत्रेधा रासकं भवेत् ।
दण्डरासकमेकन्तु तथा मण्डल रासकम् ।
एकन्तु योषिन्नियमान्नाट्य रासकमीरितम् ॥

१—दण्ड रासक, २—मण्डल रासक, ३—नाट्य रासक।

---

१. बीसलदेव रास, पृ० ६८; २. हिन्दी साहित्य (रासो काव्यधारा), पृ० ६६।

आगे शारदतनय ने नाट्य रासक के वर्णन में इसके अन्तर्गत अनेक रागों के साथ लता, पिण्डी, और भेद्यक आदि लास्य नृत्य के भेद भी सम्मिलित किया है। इससे स्पष्ट है कि नाट्यरासक एक प्रकार का गीति नाट्य प्रधान रूपक था। ऐसा प्रतीत होता है कि यही नाट्य रासक नाटकीय संकेतों और उसके कुछ अन्य तत्त्वों से विरहित होकर गीत-नृत्य परक रास परम्परा में ढल गया। इस परम्परा की अनेक रचनाओं में उनके गाये जाने और नृत्य समन्वित होने का जो उल्लेख मिलता है, वह इस उद्भव की ओर संकेत करता है।

द्वितीय परम्परा का उद्भव कुछ भिन्न है। उसकी कल्पना छन्दमूलक प्रतीत होती है। अपभ्रंश के प्रायः सभी छंद निरूपकों ने रासा नामक छन्द के लक्षण बताये हैं और रासक तथा रासाबंध नामों से एक काव्य-रूप का भी लक्षण बताया है। ये दो छंद निरूपक हैं विरहांक और स्वयंभू। विरहांक ने रासक काव्य रूप के अन्तर्गत अडिल्ला, ढोसा, मात्रा, रड्डा आदि छन्द गिनाये हैं। स्वयंभू ने धत्ता, छप्पय, पद्धडी आदि रूपकों के कारण काव्य में रासाबंध को 'जनमन अभिराम' बताया है।

२—कथावस्तु में ऐतिहासिक साक्ष्य

बीसलदेव रास एक ऐतिहासिक काव्य है। इसकी कथावस्तु और इतिहास में कितना सम्बन्ध है, यह स्पष्ट नहीं होने पाया है। इसकी ऐतिहासिकता इसकी कथावस्तु और तदन्तर्गत पात्र एवं स्थानों के नाम पर निश्चित् की जा सकती है। आज पर्यन्त इस सम्बन्ध में विभिन्न मत व्यक्त किये गये हैं। किन्तु उचित प्रमाणों के अभाव में अभी तक कोई स्थिर मत नहीं बन पाया है।

(क) कथावस्तु—श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने बीसलदेव रास की कथावस्तु की प्रमाणिकता और अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार किया है—"प्रथम पृथ्वीराज के पुत्र अजयपाल ने सांभर से अपनी राजधानी अजमेर में हटा ली थी। अजमेर का नाम अजयसिंह के नाम पर ही है। इस वंश में अर्णोराज और चतुर्थ बीसलदेव (विग्रहराज) बहुत ही प्रतापी और कविकल्पवृक्ष राजा हुए हैं। बीसल-देव स्वयं अच्छे कवि थे। उनका लिखा एक प्रस्तर-खण्ड पर क्षोदित 'हरिकेलि नाटक' आंशिक रूप में प्राप्त हुआ है। इसका आधार किरा-तार्जुनीय काव्य है। इसमें राजा स्वयं अर्जुन का स्थानापन्न है। महादेव जी उसे दर्शन भी देते हैं। उसके राजकवि सोमदेव ने 'ललित विग्रहराज'

नाम का एक नाटक लिखा था। यह भी एक प्रस्तर खण्ड पर आंशिक रूप में क्षोदित मिला है। इसमें इन्द्रपुर के राजा वसन्तपाल की पुत्री देसलदेवी के साथ बीसलदेव के प्रेम का वर्णन है। राजा और राजपुत्री कल्पित जान पड़ते हैं और उन दोनों के ऐतिहासिक समझे जाने वाले काव्य की प्रकृति का सुन्दर परिचय देते हैं। इसी बीसलदेव के काल्पनिक प्रेम कथानक को परवर्ती काव्य बीसलदेव रासो में वर्णन किया गया है। यहाँ प्रेम पात्री मालवार के परमार राजा भोज की कल्पित पुत्री राजमती है। इस काव्य में बीसलदेव रूठ कर उड़ीसा की ओर जाता है, परन्तु ललित विग्रहराज में वह प्रिया के पास यह सन्देश भिजवाता है कि पहले हम्मीर का मानमर्दन कर लूँ, तब उसके पास आऊँगा। दोनों ही कवियों ने ऐतिहासिक तथ्यों की परवाह न करके उन दिनों की प्रचलित प्रथा के अनुसार सम्भावनाओं पर जोर दिया है।'' इस प्रकार द्विवेदी जी ने बीसलदेव रास को सम्पूर्ण कथावस्तु को ही लोक-गाथाओं पर आधारित और कपोल कल्पित माना है।

अस्तु; वह कथावस्तु इस प्रकार है —

बीसलदेव रास में चार खण्ड (सर्ग) हैं,[1] और सम्पूर्ण काव्य २००० चरणों में समाप्त होता है। प्रथम सर्ग में ८५ छन्द हैं। इनमें राजमती और शाकंभरी नरेश मालवा के भोज परमार की पुत्री का बीसलदेव के साथ विवाह वर्णित है। द्वितीय खण्ड में ८६ छन्द हैं। इसमें राजमती और बीसलदेव में लौकिक विषयों के सम्बन्ध में वाद-विवाद, उड़ीसा पर चढ़ाई और उड़ीसा के राजा देवराज द्वारा उसके स्वागत का वर्णन है। तीसरे खण्ड में १०३ छन्द हैं। इनमें राजमती का वियोग और ग्यारहवें वर्ष पत्र पाकर बीसलदेव के अजमेर लौटने का वर्णन है। चौथे खण्ड में ४२ छन्द हैं। इनमें बीसल द्वारा अपने भतीजे को युवराज पद पर आसीन करने, भोज को आमन्त्रित कर उससे मिलने, भोज का अपनी पुत्री को घर ले जाने और बीसलदेव द्वारा राजमती को वापस लाने आदि का वर्णन हुआ है।

लगभग सभी साहित्य के इतिहासकारों ने और उसके प्रथम सम्पादक श्री सत्यजीवन वर्मा ने भी इसी कथावस्तु को स्वीकार कर लिया है। आकार की दृष्टि से ३१६ छन्दों वाला यह काव्य बृहद् न भी कहलाये, लेकिन लघु भी नहीं कहा जा सकता। वर्णन वैचित्र्य की दृष्टि

---

[1] सत्यजीवन वर्मा द्वारा सम्पादित 'बीसलदेव रासो' के अनुसार।

से भी इसमें विवाह, चढ़ाई, वियोग, राज्याभिषेक आदि प्रसंग इस कृति को गरिमा प्रदान करते हैं। इसी विस्तार को देखकर सभी ने उसके काव्य-रस के सम्बन्ध में इस प्रकार से विचार व्यक्त किये हैं—

'ग्रन्थ में वीर और श्रृंगार रसों का मिश्रण है। यद्यपि प्रधानता विरह श्रृंगार की है। बीसलदेव रास एक वीरगीत है, जिसमें वीर कृत्यों का ही उल्लेख नहीं, वरन् जीवन की अन्य घटनाओं का उल्लेख भी पाया जाता है। वीर सदैव लड़ते ही नहीं रहते। उनके हृदय में भी कोमल मानवी भावनाओं का अस्तित्व रहता है। इसी लिए बीसलदेव रास प्रेम और श्रृंगार प्रधान काव्य होने पर भी वीर रचनाओं में रखा जाता है। इन विचारों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वीर रस का पुट होने से बीसलदेव रास वीर काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है, जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्ट लिखा भी है और सभी ने ऐसा किया भी है। यह बात रास परम्परा के नितान्त विरुद्ध पड़ता है, जैसा कि पूर्व रासो परम्परा के सन्दर्भ में दिखाया गया है। इस अव्यवस्था का कारण ग्रन्थ में प्रक्षेप और अवैज्ञानिक सम्पादन ही है।

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने ग्रन्थ के मूलपात्र, मूलस्थान और मूल घटनाओं की रक्षा करते हुए उपर्युक्त सारी कथावस्तु को आमूल परिवर्तित कर दिया है। ऐसा करने में प्रधानरूप से उनकी सम्पादन विधि, जो आगे लिखी जायगी, ही कारण बनी है। आज के पाठालोचन के सिद्धान्तों से अपरिचित व्यक्ति इस परिवर्तन को देख कर यह विश्वास नहीं करेगा कि दो ग्रन्थों के इस प्रकार के दो रूप सम्भव हैं या किसी अच्छा-खासा दिखने वाले ग्रन्थ में इतनी काट-छाँट हो सकती है। उन्होंने विभिन्न प्रतियों में प्राप्त कुल ४७१ छन्दों में से केवल १२८ छन्द प्रामाणित रूप में स्वीकार किये हैं। इनके अन्तर्गत जिस कथावस्तु का गुम्फन उन्होंने किया है उसका सार इस प्रकार है—

भोजराज की सभा बैठी थी; रानी ने राजा से निवेदन किया कि जीवन-काल में ही कन्या (राजमती) का विवाह योग्य वर देखकर कर देना चाहिए। अतः राजा ने ब्राह्मण और भाट के द्वारा अजमेर के शासक बीसलदेव चहुवान के पास लग्न की सुपारी भेजी। विवाहोपरान्त एक दिन बीसलदेव अपनी नवविवहिता स्त्री के सम्मुख गर्वोक्ति करता है कि उसके समान दूसरा कोई राजा इस धरती पर नहीं है। इस पर राजमती उड़ीसाधिपति को उनसे बड़ा बताती है, क्योंकि उसके राज्य में हीरे की खान है। बीसलदेव उड़ीसा के राजा के वैभव को प्राप्त

करने के लिए व्याकुल हो उठता है। अन्त में वह तदर्थ उड़ीसाधिपति की चाकरी करने का निर्णय करता है, और १२ वर्ष के लिए उड़ीसा चला जाता है। इधर १२ वर्ष पर्यन्त राजमती वियोग व्यथा सहती है। १२ वर्ष बाद राजमती का पत्र प्राप्त कर बीसलदेव अजमेर लौट जाता है।

इस कथावस्तु में पूर्व वर्णित कथावस्तु के चढ़ाई आदि के प्रसंग बिलकुल ही गायब हो गये हैं। केवल शृंगारपरक—वियोग शृंगार, संयोग शृंगार—प्रसंग ही बच पाये हैं। इसका कारण सम्पादक का शृंगार के प्रति आकर्षण नहीं कहा जा सकता। अवश्य ही इस सम्बन्ध में उनके सम्पादन सिद्धान्त सहायक रहे हैं। सम्पादनोपरान्त नई कृति-वधू के शृंगार के बारे में डॉ० गुप्त लिखते हैं[१]—प्रकट है कि इस रचना में शृंगार के अतिरिक्त कोई अन्य रस नहीं है। इसमें विप्रलम्भ शृंगार का अच्छा परिपाक हुआ है। राजमती की विरह वेदना मर्मस्पर्शिनी है। विप्रलम्भ की अवस्था में कवि ने जो बारहमासा दिया है, वह भी अपने ढंग का अकेला है। स्वस्थ गार्हस्थ्य जीवन की इतनी वास्तविक, सरस और सफल रचना अपने साहित्य में दूसरी नहीं दिखाई पड़ती है। इस रस भरे रसायन को नाल्ह ने सुगुण सुमानसों के सामने प्रस्तुत करते हुए इस रास को सीखने का आग्रह किया है।" इस प्रकार निर्दयतापूर्ण काट-छाँट के पश्चात् थोड़े से छन्दों में एक संगठित कथावस्तु को प्रस्तुत करना गुप्तजी का कला-कौशल ही मानना चाहिए।

(ख) पात्रों की ऐतिहासिकता—बीसलदेव रास के कथानक में बीसलदेव, राजमती, भोज, आदि प्रधान पात्र हैं।

बीसलदेव—बीसलदेव इतिहास प्रसिद्ध राजा है; किन्तु राजाभोज और उसकी कन्या राजमती के सम्बन्ध के कारण वह विवादास्पद बना है। उसका उपनाम विग्रहराज और इतिहास में चार विग्रहराजों की प्रामाणिकता ने भी इस विवाद को और पुष्ट किया है। इस बात को सभी ने स्वीकार कर लिया है कि बीसलदेव इन्हीं चार विग्रहराजों में से एक है; किन्तु वह विग्रहराज तृतीय है या विग्रहराज चतुर्थ है, इसीमें सर्वत्र मल्लयुद्ध चल रहा है। बीसलदेव के सम्बन्ध में श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक बड़ा रोचक प्रसंग प्रस्तुत किया है[२]—"बीसदेव नाम ही अपभ्रंश नाम है। प्रबन्ध चिन्तामणि में एक मजेदार कहानी है, जिसमें बताया

---

[१] हिन्दी साहित्य (रासो काव्यधारा), पृ० ११०; [२] हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ३४।

गया है कि बीसलदेव ने अपना नाम बदल कर विग्रहराज क्यों रखा। बीसलदेव का एक संधिविग्रहक कुमारपाल की सभा में आया। उसने 'बीसल' को संस्कृत 'विश्वल' (विश्व को जीत लेने वाला) से व्युत्पन्न बताया। कुमारपाल के मन्त्री कपर्दी ने 'विश्वल' (वि = पक्षी, श्वल = भागने वाला) का अर्थ किया—चिड़ियों की तरह भागने वाला। यह सुनकर बीसलदेव ने अपना नाम बदल कर विग्रहराज रखा। पर कपर्दी ने इसका भी बेढंगा अर्थ सिद्ध किया। उसने बताया कि इस शब्द का अर्थ हुआ शिव और ब्रह्मा की नाक काटने वाला (वि + ग्र + हर + अज) तब बीसलदेव ने अपना नाम 'कवि बांधव' रखा।"

श्री श्यामसुन्दर दास ने इस प्रकार विचार किया है [1]—"बीसलदेव अथवा विग्रहराज नाम के चार चौहान राजा अजमेर में राज्य कर चुके हैं। विग्रहराज तृतीय सं० ११५० के लगभग वर्तमान था। इसकी रानी का नाम राजदेवी था। परमार राजा भोज का भाई उदयादित्य इसका समकालीन था। अतः यह सम्भव है कि भोज की कन्या का विवाह इससे हुआ हो और उसका नाम राजदेवी या राजमती रहा हो। इस प्रकार इस काव्य का नायक विग्रहराज तृतीय था और उसका भोज कन्या से विवाह होना ऐतिहासिक घटना है।" श्री सत्यजीवन वर्मा ने विग्रहराज चतुर्थ की ओर संकेत किया है[2]— "बीसलदेव विग्रहराज चतुर्थ का दूसरा नाम है। बीसलदेव के शिलालेख संवत् १२१० और १२२० के प्राप्त हैं।" डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी बीसलदेव को विग्रहराज चतुर्थ माना है। इसके लिए उन्होंने अनेक पुष्ट प्रमाण और तर्क उपस्थित किये हैं। इसका विवरण अगले 'रचनाकाल' के शीर्षक के अन्तर्गत द्रष्टव्य है।

सभी ने मुक्त कंठ से बीसलदेव की इतिहास के आधार पर प्रशंसा की है। द्विवेदी जी ने लिखा है[3]—"बीसलदेव कवियों का आश्रयदाता था और उसके दरबार में भाषा काव्य की थोड़ी प्रतिष्ठा भी थी। वह स्वयं प्रतापी राज था।...दिल्ली के लौह-स्तम्भ पर उसने गर्वपूर्वक घोषणा की थी कि मैंने विन्ध्याचल से हिमालय तक की सभी भूमि को म्लेच्छहीन करके यथार्थ आर्यवर्त बना दिया है। अपने वंशजों को वह पुकार कर कहता है कि मैंने तो हिमालय और विन्ध्याचल के मध्यवर्ती देश को करद बना लिया है। परन्तु बाकी पृथ्वी को जीतने में

---

1. हिन्दी साहित्य, पृ० १०४; 2. बीसलदेव रासो, पृ० ६; 3. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ३३।

तुम लोगों का मन उद्योग शून्य न हो, इस बात का ध्यान हो।" पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ऐतिहासिक बीसलदेव की प्रशंसा तो की ही है, साथ ही साथ 'बीसलदेव रास' में वर्णित बीसलदेव की शिकायत भी बड़े सबल शब्दों में की है [१]—अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) बड़े वीर और प्रतापी थे और उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध कई चढ़ाइयाँ की थीं और कई प्रदेशों को मुसलमानों के खाली कराया था। दिल्ली और हाँसी के प्रदेश इन्होंने अपने राज्य में मिलाए थे। इन वीर-चरित का बहुत कुछ वर्णन इनके राजकवि सोमदेव रचित 'ललित विग्रह-राज नाटक' (संस्कृत) में है जिसका कुछ अंश बड़ी-बड़ी शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है। और राजपुताना म्यूजियम में सुरक्षित है। पर नाल्ह के इस बीसलदेव रासो में, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य, पराक्रम का। शृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठ कर विदेश जाने का मनमाना वर्णन है। अतः इस छोटी सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है।' गुप्त जी द्वारा सम्पादित बीसलदेव रास में बीसल-देव एक दूसरे ही रूप में हमारे सामने आता है। उपर्युक्त वीर भावनाओं से उसका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। यहाँ एक शृंगारपूर्ण वातावरण में भी वह एक निरा लालची, गर्वीला, कठोर हृदय और निर्लज्ज के रूप में ही हमारे सामने आता है। प्रारम्भिक उसकी गर्वोक्ति से उसके वीर और प्रतापी राजा होने की व्यंजना अवश्य निकलती है, किन्तु काव्य-वस्तु में वह इन्हीं गुणों से समन्वित बताया गया है।

इस प्रकार बीसलदेव भले ही ऐतिहासिक वीर बीसलदेव न हो, किन्तु वह ऐतिहासिक बीसलदेव अवश्य है। हाँ, राजमती के सम्बन्ध को लेकर किसी ने उन्हें तृतीय विग्रहराज कहा है और किसी ने चतुर्थ विग्रहराज कहा है। इस द्वन्द्व युद्ध का समाहार अगले माताप्रसाद जी गुप्त के वक्तव्य में किया जायगा।

राजमती—बीसलदेव रास में राजमती भोज परमार की द्वादशवर्षीय कन्या और अजमेराधिपति बीसलदेव की पत्नी के रूप में वर्णित है। किन्तु ये दोनों बातें इतिहास स्वीकार नहीं करता। इतिहास के अनुसार भोजराज की राजमती नाम की कोई कन्या ही न थी और बीसलदेव की भी इस नाम से कोई रानी नहीं थी। इस कारण से बीसलदेव रास

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३५।

के कवि पर मनमाना करने का दोषारोपण किया गया है। ऐसी अवस्था में राजमती के बारे में कई अटकलें लगाई गई हैं। श्री द्विवेदी ने तो एक दूसरे ही ढङ्ग से इस पर चर्चा की है[१]—"पुरातन प्रबन्ध में उसकी रानी नागलदेवी को संगीत में अत्यन्त निपुण बताया गया है। राजा बीसलदेव स्वयं संगीत से एकदम अनभिज्ञ था। रानी ने उसे संगीत विद्या सिखाई थी।" स्पष्ट ही यहाँ द्विवेदी जी नागलदेवी को ही राजमती के रूप में अनुमेय बताते हैं। श्री सत्यजीवन वर्मा ने भी इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग से राजमती को जोड़ने की कोशिश की है[२]—"उसने (बीसलदेव ने) धार नृप भोजवंशीय किसी प्रतापी राजा की कन्या से विवाह किया था।" डॉ० गुप्त ने लिखा है कि राजमती तृतीय विग्रहराज की पत्नी राजदेवी होने का भ्रम हो सकता है, किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। डॉ० गुप्त के विचारों को 'रचनाकाल' शीर्षक के अन्तर्गत देख लें। सारांश में यह कहा जा सकता है कि बीसलदेव रास की राजमती इतिहास सिद्ध न भोज की कन्या है और न ही वह बीसलदेव की रानी। वह कवि कल्पित पात्र मात्र है।

भोज—बीसलदेव रास में परमार राजा भोज बीसलदेव के श्वसुर के रूप में आये हैं, जिन्होंने अपनी कन्या राजमती को बीसलदेव के साथ व्याहा था और दहेज में अनन्त वैभव और अनेक उर्वर प्रान्त दिये थे। किन्तु इतिहास इस घटना का खण्डन करता है। इतिहास भोजराज और बीसलदेव में १५० वर्ष का अन्तर दिखाता है और वह यह भी सिद्ध करता है कि भोजराज की राजमती नाम की न कोई कन्या थी, और न ही उन प्रान्तों पर उनका कभी अधिकार था जिन्हें वह दहेज में बीसलदेव को देता है। इसी कारण सभी विचारकों ने बीसलदेव रास के भोज की उपेक्षा की है और राजमती की समस्या को एक दूसरे ढंग से हल करने का प्रयत्न किया है।

नाल्ह—नरपति नाल्ह कवि बीसलदेव रास के लेखक के रूप में हमारे सम्मुख आता है। ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से इसका नामोल्लेख हुआ है—

नाल्ह रसाइण रसभरि गाइ।
तूठी ध्वइ सारदा त्रिभुवन माइ॥

अतः इस बात में किसी को सन्देह नहीं है कि बीसलदेव रास का रचयिता नरपति नाल्ह है। किन्तु वह बीसलदेव का समकालीन था या

[१] हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ३४; [२] बीसलदेव रासो, पृ० ६।

बाद का था, इस सम्बन्ध में कुछ विचारकों ने सन्देह प्रकट किया है। और कुछ ने तो निश्चयात्मक ढंग से अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। द्विवेदी जी सन्देहपूर्ण भाषा में लिखते हैं[१]—"बीसलदेव कवियों का आश्रयदाता था और उसके दरबार में भाषा-काव्य की प्रतिष्ठा थी। नरपति नाल्ह के बारे में तो यह सन्देह ही है कि वह कब का कवि है। पर अनुश्रुतियाँ सिद्ध करती हैं कि बीसलदेव के दरबार में भाषा-कवियों का मान था।" श्री श्यामसुन्दर दास ने स्पष्ट ही बाद का कवि कहा है[२]—"यह काव्य उसके (बीसलदेव के) समय के लगभग सवा सौ वर्ष बाद लिखा गया होगा। यही कारण है कि कवि को बीसलदेव के उड़ीसा जाने तथा कालिदास आदि के इसके समय में वर्तमान होने की कल्पना करने का अवसर मिला, जिसके लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं।" श्री सत्यजीवन वर्मा ने निश्चयात्मक ढंग से नाल्ह को बीसलदेव का समकालीन कहा है[३]—"नरपति नाल्ह ने अपने ग्रन्थ में प्राय: सर्वत्र वर्तमान कालिक क्रिया का प्रयोग किया है। इससे यह निश्चय होता है कि कवि बीसलदेव का समकालीन था।" इसी आधार पर पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में कई स्थानों पर नाल्ह को बीसलदेव का समकालीन लिखा है। द्विवेदी जी ने इस आधार को खण्डित करते हुए उसको तत्कालीन एक सामान्य शैली कहा है। डॉ० गुप्त ने भी नाल्ह को पर्याप्त पीछे का कवि माना है। इस प्रकार सर्वमान्य निष्कर्ष यह निकलता है कि नाल्ह बीसलदेव के बाद का कवि है। श्री गुप्त के अनुसार दोनों में कम से कम एक शताब्दी का अन्तर है।

स्थानों के नाम—बीसलदेव रास में अजमेर और जेसलमेर नगरों के नाम, मंडोवर, सोरठ, टोंक, बूंदी, आदि प्रान्तों का नामोल्लेख हुआ है। इतिहास के अनुसार विग्रहराज तृतीय का समय सं० ११५०, और चतुर्थ का सं० १२१०-२० है। जिन्होंने बीसलदेव को विग्रहराज तृतीय के साथ जोड़ा है, वहाँ इतिहास स्वयं इस बात का खण्डन करता है कि विग्रहराज तृतीय के समय तक अजमेर और जेसलमेर शहर बसे थे। अजमेर को सं० ११६५ में अजयराज ने बसाया, जेसलमेर को सं० १२१२ में जेसल ने बसाया था। इस प्रकार इन शहरों के सम्बन्ध से भी बीसलदेव को तृतीय विग्रहराज नहीं कहा जा सकता। यदि चतुर्थ

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ३३; २. हिन्दी साहित्य, पृ० १०४; ३. बीसलदेव रासो, पृ० ७।

विग्रहराज को स्वीकार किया जाय तो इन दोनों शहरों का प्रयोग ऐतिहासिक कहा जा सकता है। अपनी कन्या के विवाह में दायज के रूप में भोज द्वारा बीसलदेव को मंडोवर, सोरठ, टोंक, बूंदी आदि प्रदेश का दिया जाना अनैतिहासिक ही है, क्योंकि ऐतिहासिक भोज परमार के समय में ये प्रदेश कभी भी उसके आधीन नहीं रहे हैं। इस प्रकार सभी स्थान भी अपनी ऐतिहासिकता से बीसलदेव को विग्रहराज चतुर्थ होने का समर्थन करते हैं।

३—ग्रन्थ-रचनाकाल—

बीसलदेव रास की विभिन्न विद्यमान हस्तलिखित प्रतियों में, बारह सै बरहोत्तराँ' और 'सहस सतिहत्तर' या 'सहसतिहत्तर' तिथियाँ मिलती हैं। इस भिन्न शब्दावली के कारण कई संवतों का संकेत मिलता है, जैसे—१२१२, १२७२, १०७३, १०७७ आदि। इनमें से सभी हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने पं० रामचन्द्र शुक्ल के इस निष्कर्ष को ही स्वीकार किया है [1]—'बारह सौ बहोत्तर' का स्पष्ट अर्थ १२१२ है। 'बहोत्तर' शब्द 'बरहोत्तर,' 'द्वादशोत्तर' का रूपान्तर है। अत: बारह सै बहोत्तराँ का अर्थ द्वादशोत्तर बारह सै' अर्थात् १२१२ होगा। गणना करने पर विक्रम संवत् १२१२ में ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार ही पड़ता है।" इस प्रकार अधिकांश रूप में बीसलदेव रास १३वीं विक्रम शती की कृति मानी जाती रही है। इसी बीच जनवरी १९४० ई० में श्री अगरचंद नाहटा ने 'बीसलदेव रासो की हस्तलिखित प्रतियाँ' शीर्षक एक लेख में उसकी इस प्राचीनता को भी अस्वीकार कर दी। उन्होंने ग्रन्थ की ऐतिहासिक, भौगोलिक, और भाषा-विषयक विशेषताओं पर विचार करते हुए लिखा कि बीसलदेव रासो सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की रचना ज्ञात होती है। उन्होंने आगे यह भी सुझाव दिया है कि सोलहवीं शताब्दी में नरपति नाम का एक जैन कवि हो गया है, असम्भव नहीं कि यह रचना भी उसी की हो। इस प्रकार बीसलदेव रास के रचनाकाल पर आज तक जितने अनुमान लगाये गये हैं उन सब का खण्डन करते हुए डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने बीसलदेव रास को १४वीं शती की कृति सिद्ध किया है। इस अपनी स्थापना को पुष्ट करने के लिए डॉ० गुप्त ने विभिन्न आधारों पर अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। इस सम्बन्ध में उनका विश्लेषण इस प्रकार है[2]—"उसके पाठ की तीन मुख्य शाखाएँ हैं। उनमें

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३४; [2] हिन्दी साहित्य (रासोकाव्य-धारा); पृ० १०६।

से एक शाखा में रचनातिथि विषयक कोई छन्द नहीं है। दूसरी शाखा और तीसरी शाखा में रचना के सम्बन्ध में कुछ छन्द मिलते हैं। कुछ की प्रशाखाओं में भो कुछ इसी प्रकार के छन्द मिलते हैं। इन सब वैविध्य और अव्यवस्था को देखकर डॉ गुप्त की यह राय है कि "मूलादर्श में तिथि विषयक कोई छन्द न था। एक शाखा में तिथि-तिषयक प्रक्षेप करते हुए एक अन्य छन्द की रचना कर ली गई।" इतिहास का आधार ग्रहण करते हुए डॉ० गुप्त आगे लिखते हैं—"इस रचना में तीन ऐतिहासिक नाम आते हैं—बीसलदेव, राजमती, और भोज परमार। बीसलदेव-विग्रहराज—नाम के चार राजा हुए हैं, जिनमें विग्रहराज तृतीय सं० ११५० (सन्—१०९३), विग्रहराज चतुर्थ संवत् १२१०—२० (११५३-६३ ई०) और भोज परमार संवत् ११११२ (सन् १०५५) में हुए। तृतीय विग्रहराज की रानी राजदेवी थी। हो सकता है कि बीसलदेव के रचयिता ने इसी को राजमतो कहा हो और तृतीय विग्रहराज को ही आधार बनाकर इसकी रचना की हो। लेकिन इस तृतीय विग्रहराज के समय तक बहुत से स्थान नहीं बसे हुए थे। जैसे, अजमेर को सं० ११६५ में अजयराज ने बसाया, जेसलमेर को सं० १२१२ में जेसल ने बसाया था। इसके अतिरिक्त भोज द्वारा दायज में बीसलदेव को प्रदत्त मंडोषर, सोरठ, ठोंक आदि प्रान्त भी भोज अथवा उसके वंशजों के अधिकार में कभी नहीं थे। इसीलिए यह प्रकट है कि रचना भोज परमार और बीसलदेव तृतीय के बाद की है। ग्रन्थ में दी गई तिथि सं० १२७२ भोज के १५० वर्ष और विग्रहराज तृतीय के १२५ वर्ष बाद पड़ता है। अतः गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के विचार तृतीय विग्रहदेव के बारे में गलत सिद्ध होते हैं।" डॉ० गुप्त आगे एक तीसरे आधार पर इस विवाद पर विचार प्रस्तुत करते हैं—"प्राप्त विद्यमान प्रतियों में एक शाखा की एक प्राचीनतम प्रति सं० १६३३, और दूसरी शाखा की सं० १६६९। अनुमान है कि प्रथम पाठ तक मूल रचना के पाठ की चार पूर्ववर्ती स्थितियाँ रही होगी और द्वितीय तक छः स्थितियाँ। प्रत्येक स्थिति के मध्य ५० वर्ष का समय जो कि दो प्रतिलिपियों के मध्य लगना स्वाभाविक है, माना जा सकता है। इस गणना से ग्रन्थ-रचना सम्बन्धी दो तिथियाँ प्रकाश में आती हैं—प्रथम स्थिति में १६३३-२०० = १४३३; द्वितीय स्थिति में १६६९-३०० = १३६९।" इनमें से डॉ० गुप्त ने १३६९ संवत् को अन्य साक्षियों के समर्थन में अधिक मान्य ठहराया है। अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करने के लिए माननीय सम्पादक आगे पुनः भाषा

के आधार पर इस विवेचन को आगे बढ़ाते हैं—"राजस्थान के विद्वानों ने बीसलदेव रास की भाषा को १६वीं शती का बताया है। वस्तुत: इसकी भाषा न १३वीं शती की है और न १६वीं शती की, इसकी भाषा १४वीं शती की है। यदि १४वीं शती की अन्य ग्रन्थों की भाषा से इसकी तुलना करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है।"

सारांश यह है कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने बीसलदेव रास ग्रन्थ के रचना-काल सम्बन्धी परम्परागत १३वीं और १६वीं शती की मान्यता को खण्डित करके १४वीं शती दृढ़ स्थापना की है। एतदर्थ उन्होंने चार विभिन्न आधारों पर विचार किया है; १—ग्रन्थ के अन्तर्गत आई हुई विभिन्न तिथियों के आधार पर, २—इतिहास साक्ष्य के आधार पर, ३—प्रतिलिपि परम्परा के आधार पर, और ४—भाषागत विशेषताओं के आधार पर। आधारों की विभिन्नता और प्रमाणों की प्रचुरता को देखते हुए डॉ० गुप्त का मत विश्वसनीय माना जा सकता है।

४. सम्पादन—बीसलदेवरास की एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति का पता पहले-पहल काशीनागरी प्रचारिणी सभा को सन् १९०० में हिन्दी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज करते समय जयपुर में लगा। यह प्रति विद्या प्रचारिणी, जैन, सभा जयपुर के पास थी। यह संवत् १६६९ (सन् १६१२) की लिखी हुई थी। सभा द्वारा इसकी प्रतिलिपि मँगाई गई। बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने सन् १९०१ में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में एक लेख 'बीसलदेवरासो' शीर्षक प्रकाशित किया जिसमें उसके विषय में विचार प्रकट किये। आपके प्रतिवाद में सन् १९०२ में पं० रामनारायण दूगड़ ने पत्रिका में एक लेख छपवाया। तत्पश्चात् उसके विषय में कोई चर्चा न हुई और न ग्रन्थ ही प्रकाशित हुआ।

श्री सत्यजीवन वर्मा का सम्पादन—श्री वर्मा ने बीसलदेवरास का प्रथम सम्पादन किया। अपने संपादन की भूमिका में श्री वर्मा इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि जब वे काशी विश्वविद्यालय में एम० ए० के छात्र थे तो लाला सीताराम बी० ए० द्वारा संग्रहीत बारडिक सेलेक्शन (Bardic Selection) में उन्हें बीसलदेव रास का चतुर्थ सर्ग पढ़ने को मिला। उसमें उन्हें कुछ त्रुटियाँ दीख पड़ीं। उन्होंने अपने पिता जी से इसकी चर्चा की। उनके पिता जी ने इस ग्रन्थ की एक सम्पूर्ण प्रतिलिपि कहीं से लाकर दी। वह प्रति नागरी प्रचारिणी प्रति से, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है, नकल की गई थी। यह प्रतिलिपि साफ नहीं लिखी गई थी। जब श्री वर्मा ने उसका अध्ययन किया तो उसमें

भी बहुत-सी त्रुटियाँ मालूम हुईं। पुनः इसकी चर्चा पिता जी से करने पर उन्होंने एक प्रति और कहीं से मँगवा कर दी जो सं० १६५६ की लिखी हुई थी। इस प्रकार इन प्रतियों के आधार पर श्री वर्मा ने बीसलदेवरास का सम्पादन किया। इस सम्पादन प्रक्रिया में उन्होंने प्राप्त-पाठों में कोई अधिक हेर-फेर नहीं किया। कुछ सामान्य संशोधनों के साथ-साथ, उन्होंने पाठ में जहाँ यत्र-तत्र कुछ शब्द छूटे हुए जान पड़े थे, वहाँ उन्हें कोष्टकों में देकर प्रसंगानुसार छन्दों के क्रम में कुछ परिवर्तन किया। पाठकों की सुविधा के लिए उन्होंने पाद-टिप्पणी में कठिन शब्दों पर टिप्पणियाँ लिखीं। भूमिका में ग्रन्थ के सम्बन्ध में विविध विचार भी प्रस्तुत किये, जैसे—ग्रन्थ निर्माण काल, कथावस्तु, भाषा, भाषा की प्राचीनता, भाषा-व्याकरण, ग्रन्थ की उपयोगिता, कवि नाल्ह इत्यादि। सम्पादित ग्रन्थ चार सर्गों में विभक्त है। छन्द-संख्या प्रथम सर्ग में ८५, द्वितीय सर्ग में ८६; तृतीय सर्ग में १०३ और चतुर्थ सर्ग में ४२ है। सम्पादनोपरान्त ग्रन्थ के सम्बन्ध में श्री वर्मा के निष्कर्ष को उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है, "शब्द विकृति और छन्द भंग दोष का कारण 'रासो' का बहुत दिनों से मौखिक होना है। पीछे किसी ने किसी को गाते हुए सुन कर लिपिबद्ध किया होगा। बीसलदेवरासो का कवि नरपति नाल्ह ने कभी लिपिबद्ध नहीं किया। उसने केवल सुनने वालों के लिए गीतरूप में इसे छन्दोबद्ध किया था और उसे गाकर सुनाता-फिरता था। इस बात की पुष्टि स्वयं कवि के कथन से होती है। ग्रन्थ में यत्र-तत्र 'गाता हूँ', 'कहता हूँ', आरम्भ करता हूँ, 'सब लोग सुनो', 'रास सुनने से गंगाफल होता है', इत्यादि बातें इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं।"

डॉ० माताप्रसाद गुप्त का सम्पादन—डॉ० गुप्त से पूर्व श्री सत्यजीवन वर्मा द्वारा सम्पादित बीसलदेवरास का संस्करण निःसन्देह महत्त्वपूर्ण है। किन्तु कई कारणों से यह सम्पादन त्रुटिपूर्ण कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, यह सम्पादन केवल दो ही प्रतियों के आधार पर हुआ है। वे प्रतियाँ भी अधिक भ्रष्ट थीं। उनके प्रतिलिपिकार राजस्थानी लिपि से अनभिज्ञ थे। द्वितीय, इस सम्पादन में वैज्ञानिक पाठालोचन के सिद्धान्तों को नहीं अपनाया गया है। सम्भवतः सम्पादक उन सिद्धान्तों से परिचित भी न था। तृतीय, श्री वर्मा द्वारा प्रयुक्त प्रतियाँ मूल से काफी दूर पड़ती हैं, जो कि पाठालोचन के सिद्धान्तों के अनुसार अधिक विकृत-स्थिति है, सम्भवतः श्री वर्मा इस बात को नहीं

जानते थे। चतुर्थ, श्री वर्मा ने पाठान्तर बनाने का कष्ट भी नहीं किया है। फलतः विशेषकर कई स्थलों पर प्रतिलिपिकार द्वारा लिपि-साम्य के कारण हुई निश्चेष्ट विकृतियों का समाधान नहीं हो पाया है। उदाहरण के लिए :—

च > व : चीरी > वीरी
छ > व : छइ > वइ
ड > उ : लाड > लाउ
भ > म : भूती > मूती

डॉ० गुप्त ने राजस्थान से अगरचन्द नाहटा की सहायता से बहुत-सी प्रतियों का संकलन किया। इस संकलन में जो १६ हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुईं, इनका विश्लेषण कर के उन्होंने रचना के सम्पादन-सिद्धान्त स्थिर किए और इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर बीसलदेवरास का सम्पादन प्रस्तुत किया। इन सिद्धान्तों के प्रयोगों से उन्हें ११८ छन्द ऐसे मिले जो उक्त प्रामाणिक तीनों समूहों में पाये जाते हैं। अतः इन्हें उन्होंने निर्विवादमूलक मानकर ग्रहण कर लिया। इसके अतिरिक्त १० छन्द ऐसे मिले जो दो परस्पर, निरपेक्ष समूहों में पाये गए। इस कारण उन्हें भी उन्होंने मूल में सम्मिलित किया। इस प्रकार इस ग्रन्थ की विभिन्न प्रतियों में प्राप्त ४७१ छन्दों में से केवल १२८ छन्द जिनमें कथा-निर्वाह भलीभाँति हो जाती है, उनके द्वारा मूल पाठ में स्वीकृत किये गये हैं, शेष छन्दों को विवरण सहित परिशिष्ट में दिया गया है।

डॉ० गुप्त ने अपने इन सम्पादन-सिद्धान्तों को भूमिका में बड़े रोचक और वैज्ञानिक ढंग से समझाया है। विकृतियों के उदाहरण बड़े मनोरंजक और ज्ञानवर्धक हैं। इनसे लिपि और भाषा दोनों के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। डॉ० गुप्त ने कथावस्तु और उसकी ऐतिहासिकता, रचना-तिथि, रासक तथा रासकाव्य परम्परा और बीसलदेवरास तथा बीसलदेवरास के काव्यत्व पर भी विशदता से प्रकाश डाला है। परिशिष्ट से पूर्व छन्दों के अर्थ, और बाद में छन्दानुक्रमणिका देकर सामान्य जन को भी यह काव्य सुपाठ्य बनाया गया है।

वस्तुतः एक लघु ग्रन्थ पर डॉ० गुप्त का एक बृहद् उद्योग देख कर, उनका बीसलदेवरास एक गवेषणा ही कहा जा सकता है।

———

पंच सोपान

पूर्व परिचय

हिन्दी साहित्य की आदि-कालीन रास-परम्परा का 'बीसलदेव रास' अपने ढंग का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका कवि नाल्ह भी अपने ढंग का अकेला ही है। 'बीसलदेव रास' चौदहवीं सदी का अपभ्रंश-कालोत्तर युग का एक खण्ड-काव्य है। इसकी भाषा पश्चिमी राजस्थानी लोक-भाषा है, जो कि शौरसेनी अपभ्रंश-परम्परा से सम्बन्ध रखती है। इसमें कुल १२८ गीत हैं[1] और प्रायः ये सभी गेय हैं। ललित, सुथरी और सुलझी हुई भाषा में लिखे हुए ये सारे गीत शृंगार के स्रोत से मालूम होते है, इनमें शृंगार रस का प्राधान्य है। विप्रलंभ-शृंगार और संयोग-शृंगार, दोनों का इनमें अच्छा रस-परिपाक हुआ है। यत्र-तत्र प्राप्य कुछ हास्य रस की बूँदों के अतिरिक्त इसमें और किसी रस का पुट नहीं है। वर्ण्य-विषय प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों का अनुकरण नहीं करता, बल्कि इसमें मात्र एक राजा का सहारा लेकर एक लोक-गाथा का वर्णन किया गया है। इस कथा का नायक बीसलदेव है जो अजमेर का राजा है, और नायिका राजमती है जो कि धारा राज्य के प्रसिद्ध राजा भोज की पुत्री है। नायिका-नायक का विवाह, कुछ असावधानियों के कारण उनमें अनबन, वियोग और मिलन की चार प्रमुख घटनाएँ कथा के अस्थिपंजर हैं।

वैसे यह रचना किसी भी दृष्टि से महान् नहीं कही जा सकती, किन्तु अपनी परिमित भाषा-शैली, विषय-विस्तार, भाव-साधारणीकरण और यथार्थ चित्रण की दृष्टि से यह ग्रन्थ अवश्य ही सरल, ललित और कलापूर्ण है। इसकी महानता के मूल्यांकन के लिए हम इसे परवर्ती 'पृथ्वीराज रासो' या 'पद्मावत' आदि महाकाव्यों की तुलना में में तो नहीं रख सकते, किन्तु यह छोटा-सा लघु काव्य-ग्रन्थ अपने विषय में जीवन की यथार्थता को सरलतम रूप में प्रस्तुत करने में किसी भी महाकाव्य से पीछे नहीं है।

ग्रन्थ का नाम सुनते ही यह अनुमान हो जाता है कि इसका नामकरण

---

[1] डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित संस्करण के अनुसार।

नायक के नाम पर किया गया है। अतः यह भी स्वतः सिद्ध ही है कि बीसलदेव के चरित्र को ही इस ग्रन्थ में सर्वत्र उभारा गया होगा और उसी का चरित्र काव्य का आदर्श चरित्र होगा। लेकिन वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है। इस ग्रन्थ में किसी न किसी रूप में लगभग ६२ छन्द नायिका से और केवल १८ छन्द नायक से सम्बन्ध रखते हैं। अतः नायिका की ही भूमिका इस ग्रन्थ में अधिक है। नायक को अभिजात धीरोदात्त आदर्श क्षत्रिय नायक के रूप में न प्रस्तुत कर एक उद्धत, मूर्ख, लोभी और दुरभिमानी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नायिका को एक कुलीन और उदात्त नारी के रूप में प्रस्तुत कर उसके चरित्र को खूब उभारने का प्रयत्न किया गया है। ऐसा मालूम होता है कि कवि एक चारण बन कर अपने सारे छन्दों को केवल राजमती के स्तोत्र के रूप में प्रस्तुत करता है। अतः राजमती का चरित्र ही समाज के लिए आदर्श है। अगर ग्रन्थ का नाम ही 'राजमती' रखा जाता तो स्यात् समीचीन होता।

जैसा कि हमने अभी बताया है कि बीसलदेव रास नायिका प्रधान ग्रन्थ है। इस लेख का प्रधान लक्ष्य उसी नायिका राजमती के चरित्र का एक तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना है और डॉ० माताप्रसाद जी गुप्त की इस उक्ति:—"निस्सन्देह अपने कुछ विशिष्ट गुणों के कारण वह हिन्दी साहित्य का एक सर्वप्रिय चरित्र बन गयी है"[1]—के अनुसार उसके चारित्रिक उभार किसी भी पक्ष से, किसी भी भाव से, किसी भी दृष्टिकोण से किसी भी अन्य महाकाव्य की नायिका के चरित्र की उत्तमता से कम नहीं है। वह अपने में परिपूर्ण और सर्व गुणों का पुंज है। एक खण्ड काव्य के नाते भले ही कहीं-कहीं विस्तार का अभाव हो, लेकिन कवि नायिका के विशिष्ट गुणों को पकड़ने और उसके प्रकाशन करने में पूर्ण सफल हुआ है। अलभ्य नारी सौन्दर्य, स्वाभाविक चंचलता, सरलता, स्त्री-सुलभ लज्जाशीलता, विनय, पति-प्रेम और भक्ति, खोज, असाधारण चारित्रिक दृढ़ता, निष्कपटता, निर्व्याजता, एक राजकुमारी के नाते राजनियमों और राजदरबारी आचार-व्यवहारों का ज्ञान, अन्य अनेक व्यावहारिक चातुर्य आदि के क्षेत्र में राजमती, रामायण और मानस की सीता तथा पद्मावती की नागमती और सूर की गोपियों से किसी प्रकार कम नहीं है। पति-भक्ति और पति-सेवा में वह सीता से टक्कर ले सकती है, सौन्दर्य में नागमती और पद्मावती से

[1] बीसलदेव रास की भूमिका—डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित।

टक्कर ले सकती है और विरह तड़पन में कृष्णा की गोपियों से टक्कर ले सकती है।

यह आश्चर्य की बात है कि एक छोटी-सी १२८ गीतों वाली रचना में कवि ने नायिका को कैसा उभारा है। 'गागर में सागर' की उक्ति इस ग्रन्थ के लिये यथार्थ है। इस अर्थ में कवि नाल्ह का कौशल स्तुत्य है। पण्डितवर माताप्रसाद जी गुप्त के शब्दों में "नाल्ह कवि वास्तव में एक अच्छा कवि था। कवि कर्म में वह काफी निपुण था।" इसी कवि कौशल का एक विश्लेषण हम आगे देंगे।

यह विश्लेषण बिलकुल मौलिक है। इसमें भावात्मक और मनोवैज्ञानिक आधार का आश्रय लिया गया है। अतः एक दो स्थानों पर मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को समझने में, या व्यावहारिक दृष्टिकोणों में मतभेद हो सकता है। सबसे अधिक आक्षेप का स्थान द्वितीय सोपान में राजमती के चरित्र पर बीसलदेव का सन्देह करना है। वह उड़ीसा की रत्नखानों की लालच में आया और उसी को प्राप्त करने के लिये उसने १२ वर्ष के लिये अजमेर छोड़ा। यह तो स्पष्ट है, कथा के बाहरी रूप से लेकिन उसने राजमती के चरित्र पर शक किया और इसी शक को पुष्ट करने के लिये उड़ीसा गया, इसकी चर्चा तो कहीं नहीं की है। तो क्या बिना आधार के ही ऐसा आक्षेप कर दिया ? सुनिये इसके कारण :—

१—जब बीसलदेव कहता है :—

"मो सरिषउ नहीं आवर भूआल" तब राजमती कहती है :—

"ता सरिषउ अवर घणा रे भूआल,
एक उड़ीसा कउ धनी।"

इतनी सी जानकारी एक राजकुमारी के लिये साधारण सी बात थी लेकिन फिर भी बीसलदेव पूँछता है :—

हे गोरी तू बारह साल की छोकरी है, जैसलमेर में जन्मी और अजमेर में व्याही है। तू उड़ीसा की बात कैसे जानती है—(पद-३०) इस पर राजमती उड़ीसा में हिरणी के रूप में अपनी पूर्व जन्म की कथा सुनाती है—(पद ३१-३२-३४) किन्तु इस पर :—

"चितह चमकियउ बीसलराव,
घण कउ बचन वस्यउ मन माहि।"

बीसलदेव एक दम चमक जाता है, और स्त्री के वचन मन में चुभ जाते हैं। इस प्रकार से चमकने का क्या तात्पर्य है ? अगर चमकने की बात थी भी, तो प्रथम बार ही, 'एक उड़ीसा कउ धनी' सुन कर ही चमक

जाता, उसके जन्म की बात सुन कर चमकने का क्या तात्पर्य है ? और 'मन में बात चुभ गयी', क्या चुभ गयी ? उड़ीसा राजा की तारीफ तो चुभने की वस्तु न थी। वह तो साधारण बात थी। खुद भी उससे परिचित था। निस्सन्देह यहाँ चुभने की बात का उसके चारित्रिक सन्देह की ओर संकेत है। यहाँ राजमती के चरित्र पर दो प्रकार के सन्देह सम्भव हैं। प्रथम, स्यात् नारी जन्म के रूप में ही जिसका कि वह हिरणी रूप देती है, उसका उड़ीसा के राजा से सम्बन्ध रहा हो जिसकी मधुर-स्मृति उसमें अब भी शेष है। द्वितीय० शायद विवाह से पूर्व किसी न किसी रूप में उसका सम्बन्ध उड़ीसा के राजा से रहा हो। इन्हीं दो बातों की खोज उसे करनी थी। इसीलिए उसने अजमेर छोड़ा हीरे की खानों का बहाना लेकर।

२—दूसरा प्रधान कारण बीसलदेव ने चाकरी क्यों स्वीकार की ? क्या चाकरी से रत्नों की खान प्राप्त की जा सकती है ? ऐसी बात 'न भूतो न भष्यिति न वा वर्तमाने।' खैर मान लें कि उसके लिए सम्भव था पर क्या अन्त में खानों को प्राप्त किया ? नहीं ? जो थोड़ा-बहुत ला पाया, वह एक राजा की १२ साल की चाकरी के लिए नगण्य थी। यहाँ चाकर बनने का प्रधान कारण आसानी से अपने रहस्यों का पता लगा कर अपना शक पुष्ट करना था।

३—अगर उसे धन की लालच ही होती तो वह युद्ध में उड़ीसा के राजा को हरा कर सारी खानों को अपने वश में कर लेता। उसके पास राज्य बल भी तो कम न था। श्वसुर भोज का सहाय भी उसे प्राप्त था।

४—निस्सन्देह वह धन का लोभी था। एक धन के लोभी में इस प्रकार के निम्न विचार का आना असम्भव भी नहीं हैं।

५—जब राजमती का सन्देशवाहक बीसलदेव से मिलता है तो बीसलदेव उससे पूछता है—"पण्डिया गोरडीतइ किण परिदीठ"—हे पण्डित ! तू ने गौरी को किस प्रकार देखा ? 'किस प्रकार' का मतलब यहाँ उसके चरित्र की ओर ही संकेत है। तभी तो पण्डित कहता है— "पग दुय अन्तर दीयउ सन्देस ..." अर्थात् वह मुझ, जैसे बूढ़े पण्डित के पास भी नहीं आती, पर पुरुष की बात कौन कहे।

६—बीसलदेव रास वास्तव में एक लोक-कथा है, अतः ऐसी हल्की बातें सम्भव हैं। ग्राम्य-व्यवहारों में पर-पुरुष की प्रशंसा प्रायः शंका की चीज होती है।

बीसलदेव रास के सम्बन्ध में सम्भवतः यह प्रथम प्रयास है। यथाशक्ति

इसमें उस ग्रन्थ की गरिमा के अन्वेषण का मौलिक प्रयत्न किया गया है, तथा 'बीसलदेव रास : एक गवेषणा' इस ग्रन्थ का नाम भी इसी प्रयत्न का द्योतक है।

इस कृति का उपनाम 'पंच-सोपान' रखा गया है। 'यथा नाम तथा गुण:' के अनुसार रासमती के चरित्र-विस्तार को पाँच सोपानों में बाँटा गया है। प्रत्येक सोपान का नाम भी उस सोपान में वर्णित विषय-वस्तु की ओर संकेत करता है। जैसे, १—आत्म-सौन्दर्य में राजमती के विविध सौन्दर्य २—आत्म-निवेदन में अपने प्रिय से प्रवास न करने के लिये अनुरोध, ३—आत्म-वेदना में विरह की दर्द भरी वेदना, ४—आत्म-चरित्र में उसके शुद्ध-चरित्र और अन्त में ५—आत्मानन्द में मिलन सुख का वर्णन पाया जाता है। सोपान नाम से स्पष्ट है कि राजमती के गुणों और चारित्रिक तत्वों का क्रमश: विकास बताना है।

प्रथम सोपान

आत्म-सौन्दर्य

राजमती धाराराज भोज की प्रिय पुत्री है। इसके जन्म आदि के बारे में कुछ भूमिका न बाँध कर कवि एक नाटकीय ढंग से राजमती को सर्वप्रथम एक सजी-सजाई सुन्दर विरहिणी-रमणी के रूप में प्रस्तुत करता है :—

> हंस गमणि मृगलोयणी नारि ।
> सीस समारइ दिन गिणई ॥
> ततषिणि ऊभी छइ राज दुआरि ।
> नाहनइ जोवई चिहु दिसइ ॥
> काइं सिर जी उलगाणारी नारि ।
> जाइ दिहाडउ के भूरतां ।

मानो अचानक परदा हटा और विरहिणी के रूप में हंस-गामिनी, मृग-नयनी एक द्वादशी-नारी को बाल सँवारते हुए अपने प्रियतम को पाने के लिए चतुर्दिक्-पथ में व्याकुल होकर निर्निमेष देखते हुए सभी दर्शकगण अवाक् रह गये, स्तब्ध हो गये मानो उन्हीं पर सारा बीत रहा है। राजमती का यही प्रथम दर्शन आगे विस्तार पाता है।

राजमती को प्रथम दृश्य में ही इस प्रकार नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करने में कवि यह बताना चाहता है कि भोज-पुत्री राजमती सयानी हो गई है, नियम और प्रथानुसार उसका विवाह कर देना चाहिए। अन्त में एक दिन भोज का दरबार बुलाया गया—

> भोज राज तणउ मिल्यउ छइ दिवाण।
> बहु नर बैठा धइ अगवाणि ॥
> राइ राणा चिहु दिसितणा ।
> राणी जी बिनवै राइ नरिंद ॥
> बारइ हो वह ते आपणइ ।
> कुमरी परणाविज्यउ जोइ नइ बिंद ॥

राजा, राणी और अन्य सभासद सभा में अपने-अपने आसनों पर विराजमान हैं। इतने में विचार्य-प्रसंग को पारित करने प्रस्तोतृ के रूप में महारानी खड़ी होकर कहती हैं, हे राजन्! राजकुमारी राजमती

सयानी हो गई है। बारह वर्ष बीत चुके हैं। लिखने-पढ़ने में चतुर हो गई है—'चिरी लिषीधण आपण हाथ'—राजनीति-व्यवहार शास्त्र में निपुण है। वह अब पूर्ण-यौवना हो गई है। अब हमें अधिक विलम्ब करना अच्छा नहीं है। यथाशीघ्र एक अच्छे वर को खोज कर उसका विवाह कर देना चाहिये। राजमहिषी का यह प्रस्ताव सभी ने सामयिक और आवश्यक समझ कर सर्वसम्मति से उसे पारित कर दिया और राजा ने ज्योतिषी को बुलाकर कहा :—

आणिज्यो नागर चतुर सुजाण,
सुरगइ मोहइ देवता।
वीर विचक्षण बीसल दे चहुआण।

फिर ब्राह्मण को बुलाकर कहा :—

"लगन सुपारीय दीन्ही पठाइ"

किसी भी स्त्री को सुन्दर, सर्वगुणसम्पन्न, मनोनुकूल पति मिलना उसके सौभाग्य का चिह्न है। यह बात राजमती के साथ हुई। माता-पिता के प्रयत्न से उसके अनुकूल पति मिला। उसको इस बात की खुशी है और गर्व है कि उसका पति :—

"सुरगइ मोहइ देवता"

स्वर्ग के देवता को भी मोहित करता है। अस्तु, राजमती का विवाह सम्पन्न हुआ। सर्वत्र खुशी और उल्लास का साम्राज्य है :—

धरि धरि गूडी उछलइ।
कामणि गावइ छइ मंगलच्यार॥

किसी भी मंगल-कार्य में सभी को आनन्द मिले, सभी उल्लसित हों तो एक शुभ लक्षण माना जाता है और यह समझा जाता है कि सब की शुभकामना से आगे का कार्य सफल होगा। यह सब सारा दृश्य देखकर राजमती बहुत प्रसन्न है। अपने प्रिय-पतिदेव के प्रथम दर्शन के लिये व्याकुल होकर पथ निहार रही है। इतने में उसने सुना कि प्रियतम मिलने आ रहे हैं। उसका दिल धड़कने लगा, शरीर रोमांचित हो गया, आँखों में आनन्द का धुन्ध छा गया। इतने में आकाश-ध्वनि हुई, आकुल चकई सी आँखें ऊपर बिछा कर देखने लगी, उसे एक सिहरन हुई। स्वप्निल अवस्था में क्या देखती है:—

"सुरग थी आविया सुरह विमाण।"

वास्तव में उसका पति स्वर्ग से देवताओं के विमान से आ रहा है। एकदम वह ठिठकी, लज्जावन्त हो चिपकी। उसकी आँखों में प्रेमाश्रु

उभर आये। साहस बाँधे थोड़ा सिर ऊपर उठाकर घूँघट से झाँक कर देखने का यत्न किया। क्या देखती है :—

"जाए करि बीसल परितिष्य देव।"

उसका प्रिय साक्षात् देवता है, प्रत्यक्ष कामदेव है। वह आश्वस्त हुई कि लोगों का कहना झूठ न था। उसके दिल की धड़कन मन्द पड़ने लगी। वह भूल गई कि वह किसके सामने और क्यों खड़ी है। एक अचेतावस्था में एक मधुरिम स्वप्निल अवस्था को प्राप्त हुई। इधर बीसलदेव भी बड़ा प्रसन्न है कि मुझे भोजपुत्री का हाथ पकड़ने का सौभाग्य मिला है। राजमती के बारे में वह काफी सुन चुका था। वह भी एक राजा के नाते सर्वगुण सम्पन्न था। वीर योद्धा युवक था। विवाह में मनोनुकूल पत्नी को पा कर वह बड़ा खुश था। उसका यौवन-रस और मधुर हो गया था। प्रिया के प्रथम दर्शन की उत्कण्ठा उसमें भी उतनी ही थी जितनी कि राजमती में थी। अचानक सामने राजमती को पाकर उसके दृढ़-कमल नयन खिल उठे। देखिये, वह कैसे बैठी है :—

पाटि बइठीधइ राजकुमारि।
कडिहि पटोलीय चूनड़ी सार॥
काँनह कुंडल झिगमिगइ।
सीसउंराषडी तिलक निलाडि॥

राजमती पीढ़े पर बैठी हुई है। उसकी कटि में रेशम की अच्छी चूनड़ी है। कानों में कुण्डल जगमगा रहे हैं। सिर पर राखड़ी है और ललाट पर तिलक। बीसलदेव ने स्तब्ध नयनों से अपनी प्रिया को झीनी-झीनी झालर में से झाँका, क्या पाया? साक्षात् 'रतिमूर्ति'! सामने बैठी नत-मस्तक हो सर्वस्व अर्पण करने को व्याकुल है। बीसलदेव को भी बिजली मार गयी। वह अपने को भूल गया। एक मात्र उसके चक्षुपुट कार्य कर रहे हैं, मानों कमल पर दो भौंरे मँडरा रहें हैं और उसके गर्भ में स्थान पाने का यत्न कर रहे हैं। उसको अपनी प्रियतमा साक्षात् देवांगना-सी लगी। जैसे भौंरे कमल पखुंड़ी पर बैठ कर उनसे विनोद क्रीड़ा करते हैं, जिस प्रकार मधुमक्खी भिन्न-भिन्न पुष्प पर बैठ कर भिन्न-भिन्न रस ग्रहण करती हैं; उसी प्रकार कभी बीसलदेव की आँखें अपनी प्रिया की आँखों पर बैठती हैं तो उसकी आँखें मृग के समान दीखती हैं—

"मृग लोयणी नारि"

कभी हाथ पर बैठती हैं तो हाथ कोमल पद्म से लगते है—

"कोमल पदम धइ धरण केरइ हाथ"

और उसकी उँगलियाँ तो मूँगफली के समान दीखती हैं—

"मूगफली जिसी आंगुली"

कभी उसके उभरे पयोघरों पर बैठती हैं, तो उसके पयोधर कठिन लगते हैं—

"उणारा कठिन पयउहर"

जब दाँतों पर बैठती हैं, तो दाँत दाडिम के बीज से लगते हैं—

"दन्त दाडिम धण"

जब उसकी बोली पर बैठती हैं, तो बोली आकुल-सी लगती है—

"बोलती बोल छइ अकुली"

जब उसके कमर पर बैठती है, तो कमर पतली बेल-सी लगती है—

"झीणइ के लंकि"

और जब उसके अधरों पर बैठती है, तो प्रवाल के समान लाल-लाल उसके अधर दीखते हैं—

"अहर प्रवालीय"

राजमती का यही तो रति-सौन्दर्य था—

राज कुँवरि अनइ रूप असेसि ।
रूप निरूपम मेदिनी ॥

इसको देख कर मुनिजन भी थोड़ी देर के लिए विचलित हो जाते थे—

"जा दीठां मुनिवर चलइ"

बीसलदेव की आँखें मधुर शृंगार-रस से तृप्त होकर अपने में लौटीं, बीसलदेव कुछ मुस्कुराया—

"रूप देषि राजा हस्यउ ।"

और मन में हर्ष का अनुभव करने लगा—

"मन मोह हरषिउ बीसल चहु आण"

उसके मन में सकल्प-विकल्प होने लगा—

परिणियउ राजा भोज कइ ।
म्हाकइ अंचल बंधीय राजकुमारि ॥
सफल दिहाडउ आज कंउ ।
जो घरि आवस्यइ जाति पमारि ॥

आज का दिन सफल हुआ। भोजपुत्री मेरे पास आ रही है। वह अपने को धन्य समझने लगा।

यहाँ तक कवि ने नायक-नायिका को एक मंजु, मधुर, और हर्षोल्लास के वातावरण में एक सौभाग्यशाली नव-दम्पति के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में राजमती का सौन्दर्य उपमानारि संस्कृतपरम्परा से आगत अलंकारों का सहारा लेकर सुष्ठु एवं भड़कीला बनाया गया है, जो बड़ा आकर्षक है। यद्यपि ग्रन्थ में कहीं भी एक ही स्थान पर राजमती का नखशिख वर्णन नहीं मिलता, जिस प्रकार पद्मावत में पद्मावती के बारे में मिलता है, फिर भी यत्र-तत्र बिखरे वर्णनों––वह पद्मावती से कम सुन्दर सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार कवि प्रारम्भ में ही एक हर्षोल्लास, आनन्द, आकर्षण, वैभवपूर्ण और सौभाग्यपूर्ण वातावरण तैयार कर आगे आने वाले दु:ख, विरह, रोदन आदि दौर्भाग्य के आगमन की सूचना देता है और इस बात के लिये क्षेत्र बताता है कि आगे आने वाली कठिन परिस्थितियों में कौन अपने को खरा सिद्ध करेगा। यह एक कवि कौशल है कि आगे के दु:ख-सुख को घना बनाने के लिये वर्तमान के सुख-दुःख को घनतर बनाता है। यह बात किसी महाकाव्य के चरित्रों में पायी जा सकती है। मानस में स्वयंबर से पूर्व सीता और राम की स्थिति जिसका कि मधुर रूप जनकनन्दिनी के बगीचे में मिलता है और बाद में सीता और राम का पाणिग्रहण और अयोध्या में बधाइयाँ आदि दृश्य सीता और राम के भविष्य के विरह दु:ख को और घनीभूत करते हैं। गोपियों की कृष्ण के साथ केलि-क्रीड़ाएँ तथा रास-लीलाएँ आदि बातें बाद में आने वाले विरह-वेदना को और घनीभूत करती हैं। इसी प्रकार पद्मावत में नागमती का रूप-गर्व और वैभव-सुख उसके अदृश्य दौर्भाग्य की ओर संकेत करते है। इस प्रकार बीसलदेव के कवि नाल्ह ने एक विशिष्ट क्रान्त-द्रष्टा के समान कवि-कर्म 'कवयः क्रान्तद्रष्टारः' को बड़ी योग्यता से निभाया है। इसी अन्तर्दृष्टि के आधार पर हम आगे राजमती के चरित्र का निखार, उभार और विविध गुणों का विस्तार करेंगे।

द्वितीय सोपान

आत्म-निवेदन

यदि आनन्द, उल्लास एवं खुशी के वातावरण में अचानक कोई दुर्घटना हो जाय, प्रायः ऐसा होता भी है, सारा समाज हिल जाता है, असहाय, अवश और अवाक् हो कर देखता ही रहता है। उसे सँभलने का होश भी नहीं रहता। सारा वातावरण, सारी परिस्थितियाँ विपरीत हो जाती हैं। सारा सुख और वैभव, दुःख और दारिद्रय में बदल जाता है।

यही बात राजमती पर घटी। इधर विवाह के आनन्दोल्लास अभी समाप्त प्राय भी नहीं हुए थे कि उधर एक दुर्घटना घटी और राजमती के सौभाग्य-चन्द्र को राहु ने ग्रस लिया। प्रायः लोकधारणाएँ प्रसिद्ध हैं कि स्त्रियाँ ही घरेलू झगड़े एवं कलह का कारण होती हैं। शास्त्रकार चाणक्य भी इसी के हाँ में हाँ मिलाते हुए कहता है कि—

"स्त्रीणाम् सर्वाशुभानां क्षेत्रम्।"

स्त्री ही सारे अनर्थों की जड़ हैं क्योंकि :—

"स्त्रीणाम् मनः क्षणिकम्"

स्त्रियाँ चंचल मन वाली होती हैं। किसी बात के लिए उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। वे 'क्षणे तुष्टा क्षणे रुष्टा होती हैं। प्रायः अज्ञानता में स्त्रियाँ कभी-कभी कुछ का कुछ कह जाती है और कर बैठती हैं, जिससे अपूर्व हानि हो जाती है। चाणक्य कहता है :—

"न च स्त्रीणां पुरुषपरीक्षा"

प्रायः स्त्रियाँ अपने पति को समझ नहीं पातीं इसलिए छोटी-छोटी बातों में विवाद खड़ा हो जाता है, सुख सुविधापूर्ण जीवन में व्याघात उपस्थित हो जाता है—स्त्री की असावधानता और असहनशीलता के कारण महती हानि हो जाती है।

राजमती पति-गृह अजमेर आई हैं। बीसलदेव से प्रथम मिलन में ही सरस वार्तालाप छिड़ जाता है, दोनों अपने में सानन्द हैं। इसी आनन्द के परस्पर विनिमय के लिए दोनों व्यग्र हैं। लेकिन अपनी बात कैसे कहें और कौन श्रीगणेश करे, इसी असमंजस में दोनों खोए हुए हैं।

अभी-अभी विवाह हुआ है। जीवन के प्रथम चरण का प्रथम दर्शन है। एक-दूसरे के स्वभाव, प्रकृति और व्यवहार दोनों से अपरिचित हैं। ठीक तरह से परस्पर अभी तक परिचित भी नहीं हो पाये हैं। उधर राजमती व्रीड़ा में घूँघट खींचे खड़ी है इधर बीसलदेव संकोच में सिकुड़ा हुआ है। अन्त में मौन भंग कर बीसलदेव अपनी प्रिया से कुछ कहने को मुख खोलता ही है कि उसके मुँह से अचानक उसी की प्रशंसा फूट पड़ती है। कहने लगा—

गरब करि बोलियउ संइभरि वाल।
मो सारिषउ नहीं अवर भूआल॥
म्हा घरि संइभरि उग्रहइ।
चिहुं दिसइ थाणा रे जेसलमेर॥
लाख तुरीया पाषर पड़इ।
गौरी राजकउ बइसाणउ गढ अजमेरि॥

वास्तव में बीसलदेव अपनी प्रिया को रिझाना चाहता था लेकिन अचानक उसमें अपने आत्मगौरव और बड़प्पन का सुप्त अभिमान फूट पड़ा। कहने लगा—हे सुन्दरी! मेरे समान भूपाल इस मेदिनी पर कौन है? मेरे राज्य में नमक की खान सांभर झील है। मेरे पास धन-धान्य, घोड़े-हाथी और अनेक प्रकार का वैभव भरा हुआ है। बीसलदेव का यह कथन कई दृष्टिकोणों से व्यावहारिक है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि स्त्री पर अपना प्रभाव जमाने की लालसा पुरुष में पायी जाती है और वह इस ताक में रहता है कि जब भी अनुकूल समय मिले दो शब्द-शर अपनी प्रशंसा के छोड़ कर स्त्री को घायल कर शूरमा कहलाये। विवाहोपरान्त प्रथम मिलन में ऐसे अवसर का खूब लाभ उठाया जाता है। यहाँ शरों के स्थान पर बमगोले प्रयोग किये जाते हैं। अगर स्त्री भी स्वाभिमानिनी है, और पुरुष की इस नीयत को समझ गयी है तो वह भी मैदान में कूद पड़ती है और अपने को भी किसी से कम न बताने के लिये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कई प्रमाण प्रस्तुत करती है। इस प्रकार यह वाद-विवाद आगे बढ़ जाता है और अनजाने ही दोनों एक अलंघ्य संकट में फँस जाते हैं। बीसलदेव के मुख से प्रशंसा सुन कर राजमती से रहा न गया। कहने लगी—हे राजन्! आप निस्सन्देह महान् प्रजा-पालक हैं लेकिन—

गरब म करि हो संइमरि बाल।
तो सरिषा अवर घणा रे भूआल॥

एक उड़ीसा कउ घणी।
बचन द्धइ म्हाँ का माणि म माणि ॥
जिउं थारइ संइमरि उग्रहइ।
तिउं आं धरि उग्रहइ हीरा कइ षाणि ॥

आपको अपने बड़प्पन पर गर्व न करना चाहिए। आप के समान वीर और वैभवशाली राजा इस धरती पर अनेक हैं। आपके पास तो केवल नमक की खान है। उड़ीसा के राजा के राज्य में हीरों-रत्नों की भी खान है।

राजमती की यह उक्ति ही आगे के कथा-विस्तार और सारे अनर्थों की जड़ मानी गयी है। लेकिन राजमती की इस उक्ति पर जरा ध्यान देना है कि इस प्रकार कहने में उसका वास्तविक उद्देश्य क्या था? क्या वह अपने पति पर व्यंग्य कसना चाहती थी या अपने को भोजपुत्री मान कर श्रेष्ठ वैभवपूर्ण कुटुम्ब या सौन्दर्य के गर्व में अपने को ऊँची और उत्तम तथा बीसलदेव को छोटा या तुच्छ सिद्ध करना चाहती थी? लेकिन इनमें से किसी बात का सम्बन्ध राजमती की उक्ति से नहीं था। वह एक साधारण हितचिन्तिका स्त्री के समान अपने दिल में विचार करती है कि अगर बीसलदेव इसी गर्व में चूर रहा तो आगे क्या दिग्विजयी बनेगा। क्योंकि उसने अपने पिता भोज से बड़े-बड़े दिग्विजयी महाराजाओं की विजय कथाएँ सुन रखी थीं। उसके भी स्वप्न-पटल पर दिग्विजयी भर्त्तार की चित्र-रेखाएँ खिंची हुई थीं। इसी श्रेयस्कर मार्ग की ओर संकेत कर वह कहना चाहती थी कि हे राजन्! अगर आप अपनी वर्तमान स्थिति से ही संतुष्ट हैं तो रत्न-खान देश उड़ीसा के राजा को जीत कर कैसे दिग्विजयी बनोगे? यह एक शुभकामना थी राजमती की। अगर उसे पैत्रिक वैभव का अभिमान होता तो बीसलदेव की तुलना उड़ीसा राजा से न कर अपने पिता से ही करती, जैसा कि साधारण स्त्रियाँ अपने पीहर की तारीफ का पुल बाँधती है, क्योंकि राजा भोज बीसलदेव से किसी बात में कम न था। लेकिन यह बात राजमती ने नहीं की। उसमें ऐसी तुच्छ भावना और हीन उद्देश्य न था। भोजपुत्री के रूप में राजमती यहाँ एक श्रेष्ठ ध्येय से प्रेरित होकर सुन्दर और सुसंस्कृत चरित्र प्रस्तुत करती है। इस प्रकार कहना अधिक अस्वाभाविक भी न था। प्रत्येक पत्नी की यह महत्वाकांक्षा होती है कि उसका पति वीर, साहसी, वैभवशाली और अजेय बने, सभी उसकी प्रशंसा करें। इसी वास्तविक तथ्य के उद्‌घाटन के लिये कवि ने ये वाक्य राजमती से कहलाये। लेकिन यहाँ भी कवि-

चातुर्य देखिए। चन्द्र में भी विधाता ने एक कलंक रेखा खींची है, वैसे ही कवि ने अन्त में राजमती को भी एक भूल में, एक असावधानी में फँसाया ही। शुभ-कांक्षिणी होने पर भी पति के साथ इस प्रकार के प्रतिवाद का यह स्थान और वातावरण अनुकूल न था। वह आगे भी कभी अनुकूल अवसर पाकर कह सकती थी। उसे यह भी समझना चाहिए था कि पति का इस उक्ति में क्या उद्देश्य है। शायद पति उसे रिझाने मात्र से यूँ कहता हो। लेकिन राजमती को इतना धैर्य बटोरने का अवसर न था। उसमें व्यावहारिकता की थोड़ी कमी जरूर दिखती है लेकिन वह स्वच्छमना बीसलदेव को इतना हलका भी नहीं समझती थी कि उसके इस कथन को वह बुरा मान जावेगा। इसका क्या परिणाम हुआ, आगे सुनिये।

जब बीसलदेव ने प्रतिवाद में अपनी प्रिया के मुख से इस प्रकार का अप्रत्याशित उत्तर सुना—

चितह चमकियउ बीसलराव।
धणकउ बचन बस्यउ मनमाहि॥

तो बीसलदेव एकदम कुरंग-सा चमक गया। 'तो सरिषा अवर धणा से भूआल' वाक्य उसके मस्तिष्क में गूँजने लगे, प्रतिवादी सा गरजने लगे। एक चैलेंज सा उसे लगा। मन में राजमती के वाक्यों को दुहराते हुए तर्क-वितर्क करने लगा। कई शंकाएँ उसके अन्तस् में धूम-रेखाओं सी उठने लगीं। उड़ीसा के राजा की प्रसंशा के प्रसंग ने उसे और गहराई से विचार करने के लिये मजबूर किया। धारा राज्य कहाँ और उड़ीसा कहाँ! उडीसा के राजा का परिचय १२ साल की इस अबोध-पुत्री को कैसे हुआ? उसकी प्रशंसा इसके मुख पर क्यों कर आई? बीसलदेव को उड़ीसा के वैभव का आकर्षण तो हुआ ही, साथ-पाथ उसे राजमती के चरित्र पर भी एक बारीक शक हुआ। उसे इस बात का विवेक न रहा कि राजमती भोज राजा की कन्या है। इतना साधारण ज्ञान तो उसमें सम्भव है। वह सोचने लगा हो न हो राजमती का उड़ीसा से कुछ न कुछ सम्बन्ध जरूर है। इन्हीं अपने मानसिक कुविचारों को परखने के लिए वह बड़ी सफाई से राजमती से पूँछता है:—

भारउ जन्म हुउ गोरी जैसलमेरि।
परणि आणी हूँ गढ़ अजमेरि॥

बार बरस की बडाबडो।
किहाँ से उडीसड अरू जगन्नाथ ।।
अन्न छोडउ पाणी तिजउं।
कहि मइ गोरी थारी जनम की बात ।।

राजमती बेचारी सरल हृदया है। निष्पाप और निष्कलंक चरित्रा है, निर्व्याज स्वभाव वाली है। उसे किंचिन्मात्र भी इस बात का अनुमान नहीं हुआ कि उसकी बातें बीसलदेव के दिल पर चुभ गयी हैं। वह अपने प्रियतम के मुख से अपने बारे में जिज्ञासा सुन कर सहज भाव से अपनी भूतकालीन कथा को सुनाने लगी। उसने कहा, हे राजन् ! आप मेरे जन्म के रहस्य को जानना ही चाहते हैं, तो सुनिए :—

"बन खंड-सेवती हिरणी कइ बेस।
निरजला करती एकादसी ।।
एक आहेडीय वनह मंझारि।
बिहुं वाणे उरिआं हणी ।।
म्हांकउ काल घट्यउ जगन्नाथ द्वारि।

और हे नाथ—

हिरणी मरषि समर्यउ जगन्नाथ।
आइ पहूतलड त्रिभुवन नाथ ।।
संषरै चक्र गदाधरी।
मांगि हे हिरणी मनह विचारि ।।
जइ तूं तूहउ त्रिभुवण धणी।
स्वामी पूरब देव कइ जनम निवारि ।।"

इस प्रकार अपने पूर्व जन्म की कथा सुना कर राजमती अपना परिचय देती है। कवि ने राजमती के चित्रण में असाधारण एवं अलौकिक गुण का प्रदर्शन किया है। अपने पूर्व जन्म की बातों का स्मरण रहना एक भारी विशिष्टता है, चारित्रिक शुद्धता एवं पवित्रता की सीमा है। पुण्यात्मता और देवत्व की स्थिति है। इसलिये राजमतो द्वादशवर्षिणी होती हुई भी सर्वगुण सम्पन्न है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह बीसलदेव से भी अधिक बुद्धिमती है, विवेकशीला है। इस प्रकार कवि ने राजमती के चरित्र में एक गुरुता का झण्डा गाड़ दिया है।

राजमती काफी चतुर थी। अपने प्रियतम को रिझाने के बहाने अपने अन्य साधारण ज्ञान का परिचय देने में भी नहीं चूकती। कहती है—

पूरब देस कउ कुच्छबनउ लोग।
पान फूलांतणउ नवि लहइ भोग ॥
कण संचइ कूकस भषइ।
अति चतुराई गढ ग्वालेरि ॥
कामणी जैसलमेर री।
स्वामी पुरुष भला अधइ गढ अजमेरि ॥

पूरब देश के लोग बड़े कुत्सित होते हैं। उन्हें खाने के लिये पान और फूल भी नहीं मिलते। वे इतने नीच विचार वाले लोभी होते हैं कि कण तो जमा करते हैं, और भूसी खाया करते हैं। ग्वालियर के लोग अति चतुर होते हैं। जैसलमेर की नारियाँ सुन्दरी और कमनीया होती हैं तथा अजमेरगढ़ के पुरुष बड़े भले और वीर-योद्धा होते हैं। इस प्रकार अन्त में अपने पति को एक अच्छे श्रेष्ठ योद्धा के रूप में प्रस्तुत कर और अपने स्वामी को रिझाने के बहाने अपने रूप-सौन्दर्य का भी वर्णन करते हुये कहती है, हे प्रिय! मैं जानती थी कि आप जैसे वीर योद्धा मेरे सौभाग्य-रथ के सारथी बनेंगे, इसीलिए मैंने आपके अनुकूल सौन्दर्य को पाने के लिए ही जगन्नाथ जी से प्रार्थना की थी। देखिए, यह मेरा सौन्दर्य :—

रूप निरूपम मेदिनी।
पहिरणइ लोवडी झीणइ रे लांकि ॥
आच्छी गोरी घण पातली।
अहर प्रवालीय नइ दाडिम दन्त ॥

मेरा यह रूप संसार में अनन्य है, निरुपम है। यह मेरा खिला हुआ गौर वर्ण, पतली कमर, प्रवाल के समान ये लाल-लाल अधर और दाडिम बीज के तुल्य यह दन्त श्रेणी—सबके सब निरुपम हैं। हे देव! ये सारे सौंदर्य मैंने आप ही के लिए माँगा है, ये आपही-के हैं। इन्हें स्वीकार करिए।

किन्तु 'भैंस के सामने बीन बजाना' के समान ही हुआ। राजमतो के अनुपम गुण और अनुपम सौन्दर्य बीसलदेव पर कोई असर न कर सके। वह अपने ही विचारजाल में फँसा हुआ था। इन पवित्र भावनाओं के लिए

उसके हृदयपाट बन्द थे। राजमती के पिछले जन्म की कथा सुनकर वह और भी अधिक चंचल हो उठा और राजमती के चरित्र के बारे में उसका शक और मजबूत हो गया। उसका सन्देह सत्य का रूप धारण करने लगा। इस सत्य के प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिये उसके मन में प्रेरणा की तरंगें उठने लगीं। लेकिन कैसे इस रहस्य को पायें? क्या साधन अपनाएँ? क्या राजमती से इस बारे में हम प्रत्यक्ष पूँछ लें? नहीं-नहीं, इससे कुछ नहीं हाथ आने का उलटे इस रास्ते में अनेक बाधाएँ आयेंगी। यह सब सोचने के बाद अन्त में उसने तय किया कि उड़ीसा जाकर ही पूरा रहस्य जाना जा सकता है। अतः उसने उड़ीसा जाने का विचार किया। इन सारे रहस्यात्मक अन्तर्द्वन्द्वों को बड़ी होशियारी से छिपाकर, एक अन्य आधार के बहाने का आश्रय लेकर कहने लगा—

म्हे विसराहया गोरडी।
मइ तइ बरस बारह की काणि॥
उलग कइ मिसि गरम करउं।
जिउं घरे आकइ हीरा की षांणि॥

हे गोरी! अब मुझे भूल जा। तुझमें मुझमें १२ साल की शपथ है। अब मैं उड़ीसा के राजा का सेवक बनूँगा ताकि मेरे राज्य में भी हीरे की खान आ जाये।

इतना सुनते ही मानो राजमती पर हिमालय गिर गया। वह अवाक् सी, स्तब्ध सी, मानों बिजली मारी गयी निर्जीव सी मौन खड़ी है। उसे अपने कानों पर भरोसा न हुआ। ऐसे वाक्यों की आशा क्या प्रियतम के मुख से की जा सकती थी? दाम्पत्य-जीवन के इस प्रथम पहर में अपने देवतुल्य पतिदेव से इस प्रकार के वचन स्वप्न में भी सम्भव न थे। यह कैसा दौर्भाग्यागमन, कैसा अपशकुन! परिणाम की गम्भीरता को देखते हुए वह एकदम सिहर गयी। विवेक से चेत कर, कुछ धैर्य समेट कर स्वामी से पुनः निवेदन करने लगी, 'म्हे हस्या थे करिजाणियउ साच'— स्वामी मैंने ये वचन हास्य के रूप में यूँ ही सहज भाव में कहे थे। आप इन्हें सच मान गये। अगर हे स्वामी मेरे वचनों से आपको कष्ट हुआ हो तो मैं ही दोषी हूँ—

"हूँ त्रिरासी राजा मइ कोयउ दोस।"

आप क्षमा करें मैं तो—

"पगरी पाणहीस्यउं किसउ रोस।"

आपके पैर की जूती हूँ। इस जूती पर रोष कैसा ? अगर आप मुझे छोड़कर जायेंगे तो हे प्रिय ! मैं कैसे जीऊँगी ? क्या जल के बिना मछली जीवित रह सकती है—

"स्वामी जलह विहूणा किम जीवइ माँछ।"

लेकिन बीसलदेव पर इस पश्चात्तापपूर्ण निवेदन का कुछ भी प्रभाव न पड़ा। वह अपने हठ से टस से मस न हुआ। राजमती को बुरा लगा। स्वच्छहृदया राजमती को क्या मालूम कि बीसलदेव ने क्यों उड़ीसा जाना ठान लिया है। वह उसकी धनलोलुप-प्रवृत्ति को घृणा से देखने लगी। उसे एक खीज-सी हुई कि पति साक्षात् लोभ की मूर्ति के रूप में सामने बैठा है। वह इस बात से भी परिचित थी कि उसके विवाह में दहेज के रूप में अनेक राज्य, अनेक गढ़, सोना-चाँदी, हीरों और रत्नों के भण्डार उसके पिता भोज ने उसे अर्पित किये थे। यह सारा वैभव पाकर भी बीसलदेव सन्तुष्ट नहीं है। वह पराये धन पर गृद्ध दृष्टि लगाये है। लोभ की भी सीमा है। खैर, वैभव की वृद्धि करना राजाओं का धर्म है, इस नाते बीसलदेव ने वैभव प्राप्त करने के लिए इच्छा की तो कुछ अनुचित न था, लेकिन एक राजा के नाते यह कार्य वीरोचित हो तो ठीक था। अगर इसी वैभव को प्राप्त करने के लिए हाथ में शस्त्र लेकर युद्ध की वह भेरी बजाता तो राजमती को बुरा न लगता। वह भी इस कार्य में प्रेरणा ही देती और शायद अवसर आता तो स्वयं भी एक वीरांगना सी कमर कस कर रणभूमि में कूद पड़ती, आखिर भोजपुत्री जो ठहरी ! लेकिन यहाँ नीचता और कायरता की हद है। अनात्म गौरव की सीमा हुई। राजमती इसी विचार-संघर्ष में तिलमिला गयी। उसकी विचारधारा फूट चली— लोग क्या कहेंगे ? राजा भोज के जामात्र की यह कदर्यता, यह नीच कार्य और यह बुजदिली ! ये सारे कुत्सित आरोप वह कैसे सहन करेगी ? अन्त में उसने निश्चय किया कि राजा का यह हठ सफल नहीं होने दूँगी, उनको इस नीच मार्ग पर नहीं चलने दूँगी अन्यथा अनर्थ हो जायगा, सारी खुशियाँ मिट्टी में मिल जायेंगी। जिन्दगी के अरमान भूमिसात् हो जायेंगे। अपना तो सर्वस्व खो जायेगा, साथ-साथ जैसलमेर और अजमेर के दोनों कुल कलंकित हो जायेंगे। राजमती एक चतुरवैद्य-सी मर्म पर शस्त्र चलाते हुए बोली, हे स्वामी—

सइंभरि धणीय किउं उलग जाइ।
म्हा की हूं गइल दे करह पठाई॥

पीहर जाइसुं आपणइ।
आणिसुं अरथ नइ गरथ भंडार॥
आणिसुं हीरा पाथरी।
स्वामी मालव सरसो आणिसुंधार॥

आप एक राजा हैं, सेवकाई आपके लिए शोभनीय नहीं है। हाँ, अगर आपको हीरे-रत्नादि का भण्डार ही चाहिए तो आप मुझे जैसलमेर भेज दीजिए। आपके लिए सारे वैभवों से युक्त राज्य को ही, लाकर सौंपू। इस प्रकार राजमती ने अपने प्रिय के यात्रा-पथ के कंटक बनने, अर्गला बनने की ठानी। रामायण की सीता को देखिए। राम आकर कहते हैं, हे सीते!

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया।
पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजित:॥

अब पिता की आज्ञा से भरत का राज्याभिषेक होगा। मैं सत्यप्रिय पिता दशरथ के वचन को पूर्ण करने के लिए १४ वर्ष का बनवास करूँगा, इसलिए हे मनस्विनी, तू स्थिर मतिवाली होकर सास-ससुर की सेवा में रह। मैं तो पूज्य गुरुस्वरूप पिता की आज्ञा पालन कर शीघ्र ही लौटूंगा—

"अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरो: समनुपालयन्।"

सीता के पास विरोध करने का मौका ही नहीं है। पति का १४ वर्ष का विरह उसके लिए असह्य है। लेकिन इसका विरोध भी नहीं कर सकती, क्योंकि उसका पति एक पवित्र उद्देश्य से प्रेरित होकर उससे बिछुड़ना चाहता है। उसके लिए इस बात का क्षोभ अवश्य है कि राम बुजदिल सा कैकेई के कुचक्र में फँस कर अपने स्वाधिकार को त्याग कर वन-गमन कर रहे हैं। लेकिन सीता राम के अटल निश्चय से परिचित थीं। अत: वह पति पर किसी तरह का अनुचित दबाव डाल कर अपने को हठी सिद्ध करना नहीं चाहती थीं। ऐसी अवस्था में पति की यात्रा की सफलता के लिए शुभ-संकल्प करने और आत्म-समर्पण के अतिरिक्त और कोई मार्ग उनके पास न था। अत: सीता इतना भर कह पाती हैं—

भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गति: सदा॥

इधर मानस के राम को देखिए, कैसे मृदुभावों से सने हुए शब्दों से अपनी प्रिया को समझाते है :—

मैं पुनि करि प्रयान पितु बानी ।
वेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी ।।
दिवस जात नहिं लागिहि बारा ।
सुन्दरि सिखवन सुनहु हमारा ।।

इस पर सीता कहती हैं :—

लागि सासु पग कह कर जोरी ।
छमबि देवि बड़ी अविनय मोरी ।।
दीन्ह प्रानपति मोहि सिख सोई ।
जेहि विधि मोर परम हित होई ।।

उधर पद्मावत के रत्नसेन के निश्चय को देखिए । रत्नसेन कहता है :—

चला भुगुते मांगै साजि क्या तप जोग ।
सिद्ध होउँ पदुमावति पाएँ हिरदे जेहिक वियोग ।।

इस पर नागमती इतना ही कहती है :—

जहवाँ राम तहाँ संग सीता ।
हमहूँ साथ होइब जोगिनी ।।

सीता के लिए राम और नागमती के लिए रत्नसेन श्रद्धेय हैं और अनुकरणीय हैं, लेकिन जब राजमती अपने पति के मुख से—

उलग कइ मिसि गम करऊँ ।
जिउँ घरे आवइ हीरा की षारिण ।।

यों हलके वाक्य सुनती है और एक तुच्छ-वस्तु की प्राप्ति के लिए हठ देखती है, तो उसके हृदय में श्रद्धा और भक्ति के स्थान पर घृणा, अश्रद्धा और उपेक्षा के भाव उत्पन्न होते हैं, अपने दिल में अपने सौभाग्य को धिक्कारती है कि मुझे भी कैसा क्लैव्य पति मिला । इस प्रकार सोचना एक साधारण-सी बात है । पति के साथ ही पत्नी का भी सौभाग्य बँधा होता है, अतः पति के कार्यकलापों पर ध्यान रखना और उसमें कुछ सलाह सहयोग देना स्त्री का धर्म है । इस रूप में कवि ने राजमती को सजग प्रस्तुत किया है और उसे एक विचारशीला, पतिपरायणा, और एक कुशल गृहस्थ स्त्रीत्व से पूर्ण नारी के रूप में प्रस्तुत किया है । इस प्रसंग में राजमती सीता और नागमती से भी दृढ़ और साहसी के रूप में सामने आती है । वह अधिक सूक्ष्मदर्शिनी भी है ।

राजमती अभी हार नहीं गयी है। अब भी अपने प्रिय को रिझाने और कुपथ से हटाने का अवसर देख कर उसकी मनोभूमि में आशा के अँकुर उग रहे हैं। अतः वह पुनः अपने पति को समझाती है—

उलग जाण कहइ घणीं कउण ।
घर मोह बरउ नहीं कूल्हइ लूण ॥
धरि अकुलीणीय रे कलि करइ ।
रिण का चंपिया घर न सुहाइ ॥
कइ रे जोगी हुइ नीसरइ ।
कइ मुहडउ लेइ नइ उलग जाइ ॥

हे स्वामी ! आपको सेवक बनने की क्या आवश्यकता है ? सेवकाई का नीच कर्म तो वे करते हैं जिनके घर में खाने को नमक तक नहीं मिलता, या जिनके घर में हमेशा कलह रहता है, या जो ऋण के भार से दबे हुए हैं, अथवा जो जोगी बन कर संसार से मुँह मोड़ना चाहते हैं, लेकिन आप तो किसी विपत्ति में नहीं हैं। अनन्त राज वैभव के साथ मुझ जैसी सुन्दरी आपकी सेविका है। आपको और किसी चीज की कमी नहीं है। अतः हे प्रिय ! यह हठ छोड़ो, यह हेय साहस आप जैसे वीर के लिये अशोभनीय है। इतने पर भी बीसलदेव हिलते नहीं। उनके कान में जूँ तक नहीं रेंगती। वे अपने ही हठ पर अड़े रहे। राजमती ने एक और प्रबल अस्त्र छोड़ा और कहने लगी—

बेटी व्याही राजा भोज की।
सोलहउ सोनउ काइं करइ धार ॥

हे राजन् ! आप को कम से कम इस बात का तो ध्यान रखना चाहिये कि आप राजा भोज की कन्या से व्याहे हैं। अगर आप मुझे छोड़ कर जायेंगे तो सोलह गुणों से युक्त मुझ स्वर्ण कन्या को राख होते हुए देख कर राजा भोज शायद नाराज हो जायेंगे। स्यात् ऐसी बात सहन भी न करेंगे। हमें फिर उनका कोपभाजन बन कर मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा। अतः आप को इस हठ पर अड़े रहना उचित नहीं है। मेरी बात मान जाइए और कहीं जाने का नाम न लीजिए।

यहाँ कवि ने राजमती को एक कुशल व्यवहारशील के रूप में प्रस्तुत किया है। देखिए, कितने सरल शब्दों में और कैसे घुमा फिरा कर राजमती अपने पति को अपने पिता का भय दिखाना चाहती है। वह इस बात का भी संकेत करना चाहती है कि अगर मेरे पिता रुष्ट होंगे तो आप की हानि भी कर सकते हैं। आपके इस धनलोलुप, कुत्सित आकर्षण के

कारण वे अपने दिल में आपको एक कापुरुष और लालची-कुत्ता मात्र समझेंगे। रामायण में सीता जैसी पतिव्रता स्त्री को भी राम की सरलता को असहन कर उनसे कहना पड़ा—

किं त्वामन्यत वैदेह: पिता मे मिथिलाधिप: ।
राम जामातारं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ।।

हे पुरूषोत्तम राम ! षड्यन्त्र रचा कर आपका राज्याभिषेक छीन लिया गया है और १४ वर्ष का बनवास दिया गया है। आप अपने अधिकार के लिये संघर्ष न कर मौन हो कर इतना बड़ा दण्ड स्वीकार कर रहे हैं। दुनिया क्या कहेगा, इसका भी विचार किया है आपने ? मेरे पिता जनक महाराज क्या समझेंगे ? वे तो यही समझेंगे कि मेरा जामाता राम बुज़दिल है ! पुरुषकार में वह एक स्त्री मात्र है, यह कलंक आप कैसे सहियेगा ?

यहाँ सीता प्रत्यक्ष राम पर हमला करती हैं और सीधे अभिधात्मक शब्दों में उन्हें स्त्री भी बनाती हैं। यहाँ सीता के सूक्ष्म व्यवहार ज्ञान की कमी प्रतीत होती है। अगर ये शब्द राजमती बीसलदेव के लिए प्रयुक्त करती, तो शायद वह अपने से बाहर हो जाता। लेकिन साधु पुरुष राम ने इस गरल-व्यंग्य को खामोश पी लिया। इस अर्थ में राजमती सीता से भी अधिक चतुर सिद्ध होती है। उधर पद्मावत की रागमती तो और बुज़दिल है। उसमें पति को रिझाने और मनाने का भी व्यावहारिक कौशल नहीं है। डराने की बात तो अलग रही। नागमती जानती है कि उसका पति एक अन्य स्त्री पर आकर्षित होकर उसका संग त्यागने का हठ कर रहा है। वह यह भी जानती है कि रत्नसेन के जाने पर विरहाग्नि में उसे जलना होगा और भविष्य में एक सौत का भी सामना करना पड़ेगा। नागमती के लिए यह प्रत्यक्ष अपमान की बात थी। उसका पति उसके रूप-लावण्य का तिरस्कार कर अन्य स्त्री में आसक्त है। ऐसी परिस्थिति में भले ही उसका पति कृतसंकल्प हो और उसकी बात न माने, लेकिन कम से कम एक बार तो प्रयत्न करके देखती। किन्तु नागमती कुछ नहीं करती, जैसे मानों पति का विरह उसके लिये मामूली-सी बात है जब कि आगे के प्रकरणों में नागमती की विरह-वेदना हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध है। इस प्रसंग में राजमती नागमती से भी अधिक दाक्षिण्य वाली सिद्ध होती है। बारह साल की कन्या में इस प्रकार का कौशल और सजगता अन्यत्र दुर्लभ है।

राजमती अभी निराश नहीं है। उसे अभी अपने पर विश्वास है

कि वह अपने प्रियतम को प्रसन्न कर लेगी। शायद उसका पति सेवकाई के कष्टों से परिचित न हो। अगर उसको इसका ज्ञान हो जावे तो सम्भव है कि वह कुछ पीछे हटे। इसीलिए वह बड़ी बारीकी से कहती है—

साधण बोलइ सुणि राव का पूत।
उलग जाण कउ षरउ कुसूत॥

हे राजपुत्र! सुनो, सेवा का कार्य आप-हम से असाध्य है। उसमें अनेक असह्य कठिनाइयाँ हैं। आप इस संकट-जाल में फँसने का दुष्प्रयास मत कीजिए। इस प्रसंग में रामायण की सीता का व्यवहार देखिए। १४-वर्षीय वनवास और वनवास के कष्टों की ओर सीता का ध्यान नहीं जाता, उसके विचार-चक्र दूसरी ओर घूम जाते हैं। भरत का अभिषेक और राम का वनवास उसे एक षड्यंत्र मात्र मालूम हुआ। ऐसी अवस्था में राम का बन जाना उसकी कायरता सिद्ध हुई। अतः सीता का ध्यान राम के पैत्रिक अधिकार की ओर ही है। उसके लिए सीता राम को उकसाना चाहती हैं। सीता यह भलीभाँति जानती हैं कि राम त्यागी पुरुष हैं, वह कायर या बुजदिल नहीं हैं। अपने पिता और गुरु की आज्ञा में वे सर्वस्व त्याग सकते हैं केवल एक शिष्टाचारवश। इस पर भी सीता राम को अपने अधिकार की प्राप्ति के लिए प्रेरित करना चाहती हैं। यह एक उच्च आदर्श की बात तो नहीं है, लेकिन साधारण सत्य है। एक साधारण आदर्श गृहस्थ नारी में ये बातें देखी जा सकती हैं। नारी, पुरुष की अर्धांगिनी के नाते उसके अधिकार क्षेत्र के अर्द्ध हिस्से का अपने को मालकिन समझती है, उससे चिपकी रहती है। उसे वह सहज रूप से त्यागने को तैयार नहीं होती। पद्मावत की नागमती तो बिलकुल लापरवाह है क्योंकि रत्नसेन के सिंघल द्वीप की यात्रा के कष्टों से उसे कुछ भी सहानुभूति नहीं है। अपने पति के दृढ़ निश्चय को देखकर वह डर सी गयी है। उससे कुछ भी बोलते नहीं बनता। राजमती के इतने प्रयास पर भी बोसलदेव नहीं पसीजता। वह अपने शपथ को दुहराता है :—

छोडि नइ गोरी हूं दे मुझ जांण।
बरस दिन रहूं तउ थारडी आण॥

वाह री राजमती! कितना धैर्य! उसने अभी हिम्मत हारी नहीं है। उसमें अब भी कुछ आशा के किरण-कण अवशेष हैं। वह इस बात से परिचित है कि पुरुष जाति ही हठी जाति है। लेकिन स्त्री, पुरुष पर

करामात दिखा सकती है। अपने हाव-भाव से, अपने बहानेबाजियों से, और अपने रोने-धोने से पुरुष को पिघला सकती है। पुरुष वीर होता हुआ भी अपनी स्त्री के आँसू नहीं देख सकता है। वह स्त्री की आँसू की धारा में अपने को बहा सकता है। इसी ज्ञान के आधार पर अपना अन्तिम शूल ग्रहण करती है। उसे कान तक खींच कर पूरे वेग से अपने पति पर आघात करती हुई कहती है—

उलग जाण की करइध्वै बात।
हूं पण आवसूं रावलइ साथि॥

राजमती भी हठ पर तुल गयी है। कहने लगी—हे स्वामी! अगर मेरे इतने निवेदन पर भी आप सेवकाई के लिए जाना ही चाहते हैं, तो मैं भी आप के साथ चलूँगी। मुझे भी ले चलिए। यह सुन कर बीसलदेव को हँसी आ गई और कहने लगा :—

गहिली हे मुंधि तोहि लागी छइ वाइ।
अस्त्री लेइ कोइ उलग जाइ॥

हे पागल मुग्धे! तुझे बाय लग गयी है। दिवानी, कहीं स्त्री को साथ लेकर चाकरी के लिए जाया जाता है? इस प्रसंग में नागमती को देखिए। रत्नसेन सिंघल द्वीप जाने का निश्चय करता है। नागमती भी साथ जाने को तैयार होती है—

"हमहूं साथ होइब जोगिनी।"

इस कथन पर देखिए, रत्नसेन में क्या प्रतिक्रिया होती है और वह कैसा व्यंग्य कसता है :—

तुम्ह तिरिया मतिहीन तुम्हारी।
मूरख सो जो मतै घर नारी॥

रामायण का पवित्र वातावरण देखिए, सीता कहती हैं—

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नती कुशकंटकान्॥

इस पर राम की उक्ति भी देखिए—

सीते महाकुलीनासि धर्मे च निरता सदा।
इहाचरस्व धर्मं त्वं यथा मे मनसस्सुखम्॥

मानस के राम भी इसी तरह के उद्‌गार व्यक्त करते हैं :—

राजकुमारि सिखावनु सुनहूँ।
आन भान्ति जिय जनि कछु गुनहू॥

आपन मोर नीक जो चहहू।
बचनु हमार मानि गृह रहहू॥
आयसु मोर सास सेवकाई।
सब बिधि भामिनी भवन भलाई॥

राम में स्त्री जाति के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं हैं, उनसे पूर्ण सहानुभूति है और मन में श्रद्धा तथा आदर की भावना है। अतः सीता का भी पति पर श्रद्धा और आदर भाव रहना स्वाभाविक है। बीसलदेव और रत्नसेन के मुख से नारी निन्दा और नारी उपेक्षा के वाक्य सुन कर राजमती और नागमती में भी अपने पति के प्रति अश्रद्धा, अनादर और उपेक्षा का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अन्त में बीसलदेव अपना फैसला सुना देता है—

हूं न पतीजउं गोरी थारइ वइणि।
जो नवि देषउ आपणइ णइणि॥
काल्ह ही उलगाणउ हुइ गम करउँ।

हे गोरी! मुझे तुम्हारी बातों पर विश्वास नहीं है। मैं कल ही उड़ीसा के लिये प्रस्थान करूँगा और प्रत्यक्ष अपनी आँखों से उड़ीसा की रत्न-खानों को देखूँगा।

अन्त में राजमती हिम्मत हार गई। उसके सारे प्रयत्न बेकार हो गये। अब पूरा विश्वास हो गया कि उसके प्रियपति उसे छोड़ कर जायेंगे। वह विरह दुःख को जानती है। वह यह भी जानती है—भर्तृवश-वर्तिनी भार्या—चाहे उसका पति कैसा ही हो, उसका अनुगमन करने वाली ही सच्ची स्त्री है। उसे इस बात का भी ज्ञान है—

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू।
पति विहीन सब सोक समाजू॥

अतः पति का अनुगमन करना ही श्रेयस्कर समझ कर वह उनसे निवेदन करती है—

"स्वामी जलह बिहूण किम जीवइं माछ।"

आप मेरे लिये जल है, मैं मछली हूँ। क्या जल के बिना मछली जीवित रह सकती है? हे स्वामी 'मरण जीवण स्वामी पग तलइ'—स्त्री का मरना जीना पति के चरणों में ही होता है। आगे कहती है—

बांदीय हुइ करि निरबहूँ।
पाव तलसिसुं ढोलिसुं वाइ॥

उमीय पुहरइ जागिसुं ।
इण परि ऊलगुं आपणउ राय ॥

हे नाथ ! मैं भी आपके साथ चलूँगी क्योंकि स्त्री के लिए—पतिरेको परमदैवत्म—स्त्री के लिए पति ही एक मात्र आराध्य देव है और— पतिरेको नारीणां सदागतिः—हम जैसे असहायों के लिये पति ही गति है। मैं आपके पैर दबाऊँगी, पँखा झलूँगी, जब आप सोयेंगे तो मैं जगकर आपकी देखभाल करूँगी। हे नाथ ! मैं हर तरह से आपकी सेवा करूँगी, आप मुझे साथ ले चलिए। पद्मावत में नागमती इसी प्रकार से निवेदन करती है :—

हमहूँ साथ होइब जोगिनी।
जहवां राम तहाँ संग सीता ॥

राम यहाँ जल हैं, सीता मछली। इसी प्रकार रत्नसेन राम (जल) है, नागमती सीता (मछली) है। नागमती कहती है, हे नाथ ! जल के (रत्नसेन) बिना मछली (नागमती) कहीं रह सकती है ? जहाँ राम वहाँ सीता, जहाँ आप वहाँ मैं। इसीलिये हे नाथ ! मुझे भी अपने साथ ले चलें। मैं आपको किसी तरह का कष्ट न दूँगी जब तक काया में प्राण है, तब तक आपकी सेवा करूँगी और पैर धोती रहूँगी—

जौंलहि जिउ संग छाड न काया।
करिहौं सेव पखारिहौं पाया ॥

मानस की सीता को देखिए, कैसी व्याकुल है :—

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी ।
तैसिय नाथ पुरुष बिनु नारी ॥

यहाँ देह जल है, जिय (प्राण) मछली है, नदी जल है, और जल मछली है, इसी प्रकार पुरुष (राम) देह है, नदी है, और स्त्री (सीता) प्राण है, जल है। सीता कहती हैं, हे नाथ ! जैसे देह बिना प्राण का कोई अस्तित्व नहीं है उसी प्रकार पुरुष बिना नारी का कुछ भी अस्तित्व नहीं है। अतः आप मुझे भी साथ ले चलिए। आपको किसी तरह का कष्ट न दूँगी, वरन् सब प्रकार से आपकी सेवा करूँगी—

"सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं।"

और आपके पैर धोकर, पेड़ों की छाया में बिठाकर आपको पँखा झलूँगी—

पाय पखारि बैठि तरु छाहीं ।
करिहउँ बाउ मुदित मन मांहीं ॥

इस बारे में रामायण की सीता भी कम व्याकुल नहीं है। देखिए, उसकी स्थिति—

"इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको सदागतिः"

हे स्वामी ! नारी के लिये तो पुरुष ही गति है, वह उसके जन्म-जन्मान्तर का साथी है ! आप मुझे कैसे छोड़ सकते हैं। मुझे भी साथ ले, चलिये। मैं आपको किसी तरह का कष्ट न दूँगी—

"न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा"

वरन् ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके मैं हमेशा आपकी सेवा करूँगी—

"शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।"

यहाँ पति निवेदन में, रामायण की सीता, मानस की सीता और पदमावत की नामगती तथा बीसलदेव रास की राजमती समभाव-भूमि पर हैं, संवेदनापूर्ण हैं। चारों का चरित्र स्तुत्य है। एक साधारण खण्ड काव्य की अबोध नायिका, महाकाव्यों की नायिका के समकक्ष खड़ी है। धन्य है राजमती !

इन आत्म-निवेदनों का प्रभाव किन पर कैसे पड़ता है, यह भी दर्शनीय है। बीसलदेव राजमती से कहता है—

भोली है नारि तू बाउली।
चन्द कूडइ किउं ढांकियउ जाइ ॥
रतन छिपायउ किउ रहइ ।
उवइ वाचाकउ हीणउ पूरव्यउ राउ ॥

हे नारि ! तू बड़ी भोली है। अरी दिवानी, क्या चाँद कचरे से छुपाया जा सकता है ? कहीं रत्न छुपाया जा सकता है ? तू भी तो चाँद और रत्न के समान है। तुझे मैं दुनियाँ की निगाहों से कैसे बचा सकूंगा ? पूरब के लोग तो बड़े हीन स्वभाव के होते हैं, इसलिये तेरा हठ ठीक नहीं है। पदमावत में रत्नसेन नागमती से कहता है—

तुम्ह तिरिया मतिहीन तुम्हारी ।
मूरख सो जो मतै घर नारी ॥

इस प्रकार रत्नसेन के लिये नागमती और बीसलदेव के लिये राजमती एक मात्र उपेक्षिता नारी हैं, मतिहीना हैं। इसलिये इनका रोना-धोना उनके लिये कुछ अर्थ नहीं रखता।

रामायण में राम के लिये स्त्री जाति सम्माननीय है, अतः वह सीता के आग्रह को बड़े धैर्य से सुनते हैं। उनकी दर्द भरी आह को सुन कर एक बार पिघल जाते हैं। फिर भी राम सोचते हैं, स्त्री जाति भावुक होती है। सीता की भावुकता की वास्तविक जाँच करने और उसके धैर्य-साहस को आजमाने के लिये राम सीता को डराते हुए कहते हैं :—

गिरिनिर्झरसंभूता गिरिकन्दरवासिनाम्।
सिंहानां निनदा दुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम्॥

हे जनकनन्दिनी सीते! पहाड़ो झरनों की गड़गड़ाहट और पर्वतों की गुफाओं में रहने वाले सिंहों की भयंकर गर्जना सुनने से दुःख होता है, अतः बन बड़ा कष्टप्रद है। तथा—

संग्राहाः सरितश्चैव पंकवत्यः सु दुस्तरा।
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम्॥

हे मनस्विनी सीते! नदियों में बड़े-बड़े मगर होते हैं, कीचड़ से भरे नदी के रास्ते होते हैं, जिन्हें मस्तहाथी भी पार नहीं कर सकते। वनवास बड़ा ही दुखदायी है, अतः तू वनगमन के विचार को त्याग दे। मानस के राम भी इसी तरह की परीक्षा लेते हैं :—

कंदर खोह नदी नद नारे।
अगम अगाध न जाहिं निहारे॥

हे वामे! पर्वतों की गुफाएँ, खोह, नदियाँ, नद और नाले ऐसे अगम्य और गहरे हैं कि उनको देखा तक नहीं जा सकता :—

भालु बाघ वृक केहरि नागा।
करहि नाद सुनि धीरजु भागा॥

रीछ, बाघ, भेड़िये, सिंह ऐसे भयानक शब्द करते है कि उन्हें सुनकर धीरज भाग जाता है। इस प्रकार राम हर तरह से बन की भयंकरता का वर्णन कर सीता की परीक्षा लेते हैं, लेकिन सीता भी कच्ची मिट्टी की नहीं बनी थी। देखिए, बाल्मीकि की सीता कैसे डट कर उत्तर देती हैं—

"वनवासे हि दुःखानि जानामि बहुधा किल"।

हे दाशरथि! मैं बन के सारे दुखों से परिचित हूँ और यह आपका कथन भी ठीक है—

"मृगाः सिंहाः गजाश्चैव शार्दूलाः शरभास्तथा।"

भयंकर सिंहों, हाथियों बाघों से बन भरा हुआ होता है लेकिन हे पुरुष श्रेष्ठ ! आपको देखते ही वे सारे दुम दबा कर भाग खड़े होते हैं। इनसे मुझे भय मत दिखाइये :—

"रूपं दृष्ट्वाऽपसर्पेयुर्भये सर्व हि विभ्यति।"

तुलसी की सीता भी संक्षिप्त रूप में यह सारा कथन कह जाती हैं—

बन दुःख नाथ कहे बहुतेरे।
भय विषाद परिताप घनेरे॥

हे प्रियतम ! आपने बन के बहुत से दुख, और गहरे विषाद गिनाये, लेकिन हे दीनबन्धु राम :—

प्रभु वियोग लवलेस समाना।
सब मिलि होंहि न कृपा निधाना॥

ये सारे दुःख आपके एक क्षण के वियोग के बराबर भी नहीं हैं। दोनों सीताएँ इस परख में खरी उतरीं तभी दोनों का परीक्षा-परिणाम भी घोषित किया गया। रामायण के पुरुषोत्तम राम कहते हैं :—

न देवी तव दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचते।
अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव॥

मानस के राम भी अपना फैसला सुनाते हैं :—

कहेउ कृपाल भानु कुल नाथा।
परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥
नहिं विषाद कर अवसर आजू।
वेगि करहु बन गमन समाजू॥

धन्य बालमीकि, धन्य तुलसीदास ! तुमने नारी के जगन्मातृरूप को निभाया। इधर नाल्ह और जायसी को देखिए, पुरुष की निर्दयता और स्वार्थ का चित्र खींच कर नारी जाति को कैसा त्रिशंकु बनाया।

नारी के प्रति उपेक्षा-भाव होने के कारण राजमती में बीसलदेव के प्रति, और नागमती में रत्नसेन के प्रति कोई पूजनीय भाव नहीं हैं। व्यवहार-शास्त्र कहता है कि अगर आप दूसरे से अपने लिए मान-सम्मान की अपेक्षा करते हैं तो यह आवश्यक है कि आप भी दूसरों का मान-सम्मान कीजिए। विशेषकर गृहस्थ के मामले में यह गृह-कलह का एक प्रधान कारण बनता है। पद्मावत में रत्नसेन का दृढ़ निश्चय देख कर नागमती की हिम्मत पस्त हुई। एक साधारण नारी के समान रोने-

धोने लगी, चिल्लाने लगी, हाय-हाय करने लगी, और चूड़ियाँ फोड़-फोड़ कर एक बवंडर खड़ा कर दिया—

रोवहिं रानी तजहिं पराना।
फोरहिं वलय करहिं खरिहाना॥

लेकिन राजमती नागमती से अधिक हिम्मत वाली है। धैर्य और जीवट के गुण उसमें विद्यमान हैं। इसके कई कारण हैं। राजमती का अभी-अभी विवाह हुआ है, उसका यौवन पूर्ण और अक्षत है। लाखों अरमान संजोये वह पतिगृह आयी है। अभी उस यौवन के सुख की एक किरण ने भी उसे स्पर्श नहीं किया है। गार्हस्थ-सुख क्या है, 'अभी तो उसे आभास तक नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में वह अपने सुख-स्वप्न के मध्य किसी का भी आक्षेप सहन नहीं कर सकती है। विरह में अपने यौवन को, और अपनी अभिलाषाओं को कैसे दबा पायेगी। क्या उसका यह यौवन, यह सौदर्न्य यों ही व्यर्थ चल जायेगा ? क्या निरुद्देश्य ही भगवान् ने उसे बनाया है ? नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, यह अन्याय होगा। इसका प्रतिकार आवश्यक है। इसलिये राजमती फिर एक बार दर्द भरे शब्दों में कहती है :—

कर जोड़ी कामणि कहइ।
देखि कुबुद्धीय घण केरउ ब्रेस॥

हे नाथ ! मैं हाथ जोड़ कर निवेदन करती हूँ। कृपा कर आप कम से कम मेरे इस वयस को तो देखिए। यह सोलह गुणों से युक्त खरा सोना है। मेरा यह शृंगार, उभरा हुआ यौवन, क्या विधाता ने यों ही बेकार रचा है ? इसका क्या कुछ भी उपयोग नहीं है। हे प्राणनाथ :—

"जोवन मुरडीय मारस्यइ।"

अगर आप इसका उपयोग नहीं करेंगे तो वह मुझे मरोड़-मरोड़ कर मार डालेगा। हे स्वामी ! उस पीड़ा को मैं कैसे सहन करूँगी ? दया करो देव ! मुझ पर तरस खाओ। इस पर पाषाण हृदय बीसलदेव कहता है:—

छोडी नइ गोरी तूं दे मुझे जांण।
कठिन पयोधर दिव किया॥

हे भामिनि ! मेरा पीछा छोड़ दे, मुझे जाने दे। मैं तेरी नखरेबाजियों को जानता हूँ। तू अपने कठिन पयोधरों को अग्नि बना कर उसमें मुझे जलाना चाहती है। मैं तेरे जाल में फंसने वाला नहीं हूँ। अन्तिम बाण भी व्यर्थ चला गया। किसी चीज़ की हद होती है। आत्मा की पुकार

अपनी अन्तिम पीड़ा और दर्द की सीमा तक पहुँच गयी। अब मरने के सिवा और कोई मार्ग नहीं रहा। राजमती तिलतिल कर गलने की अपेक्षा एकदम मरना ही स्वीकार करती है—

मो नइ मारि कइ सरिसीय लेइ।
कइ तउ झंफद्यउं गंग दुवारि॥

हे नाथ! मैं आपके बिना जीना नहीं चाहती। आप मुझे मार डालिए या साथ ले चलिए, अन्यथा मैं गंगा में कूद मरूँगी।

बीसलदेव रास ग्रन्थ में लोक-गाथा परम्परा की पुस्तक होने की वजह से साधारण ग्राम्य स्त्री गुणों का समावेश राजमती के चरित्र में स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। जैसे पति से अधिक अनुराग, उसकी अनुपस्थिति की असह्यता, अधिक जिद्द, समय पड़ने पर कुएँ आदि में कूद कर मरने की धमकी और अन्त में नाराज होने पर कटु शब्दों का प्रयोग करना, अशुभ संकल्प करना आदि। आगे हम प्रसंगानुसार बतायेंगे कि पद्मावत में भी नागमती का अन्तिम प्रयास निष्फल होने पर वह मरने के लिये तैयार होती है:—

कै हम लावहु अपने साथाँ।
कै अब मारि चलहुँ सैं हांथा॥

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि राजमती और नागमती दोनों पति के बिना मरना पसन्द करती हैं। लेकिन यहाँ राजमती नागमती से एक कदम आगे है। वह कहती है, हे नाथ! अगर आप मुझे मार न डालेंगे तो मैं गंगा में कूद कर स्वयं मर जाऊँगी। इस रूप में पति के बिना किसी भी प्रकार का वैभव उसे ग्राह्य नहीं है। लेकिन नागमती की मरने की भावना रोदन-मात्र है। उसे राज वैभव के सुख का अनुभव करना है, वह कैसे मरेगी और निस्संदेह राजमती का जीवन नागमती से अधिक त्यागमय है। स्त्री के मरने की धमकी सुन कर बड़े-बड़े जीवट के पुरुष डर जाते हैं, पाषाण हृदय भी पिघल जाते हैं। लेकिन आप जानते हैं बीसलदेव में क्या प्रतिक्रिया हुई? उसकी निर्दयता और कठोरता अन्तिम सीमा तक पहुँच जाती है। या हम यूँ भी कह सकते हैं कि उड़ीसा के वैभव के लोभ ने उसे अन्धा बना दिया है, हृदय को कठोर पत्थर बना दिया है। वह कहता है:—

कड़ुआ बोल न बोलि हे नारि।
मइ तुम्हें मेल्हीय है चितह बिसारि॥

हे नारी! कड़वी बात न कह। मैंने तुझे चित से विस्मृत कर छोड़ा

है। अन्त में मरता क्या न करता—क्या न करे अबला सबल—राजमती ईंट का जबाब पत्थर से देना भी जानती है। कड़क कर निर्भय होकर कहने लगी :—

छांडी हो स्वामी म्हे थारी हो आस।
मइला हो थारउ किसउ बेसाख॥

हे स्वामी आप का दिल मैला है। आप पर मेरा कुछ भी भरोसा न रहा। अब मैं आपसे कुछ भी आशा नहीं रखती, आप खुशी से जा सकते हैं। लेकिन याद रखना :—

चालियउ उलगाणइ ध्वंडोय काणि।
अरथ दरब थारा जीव की हाणि॥
तई बूडइ स्वामी म्हे बूडी।
तइ गयइ स्वामी ए घर जाइ॥
अरथ दरब गाड्या रहइ।
जेइ नइ सिरिजियउ तेही जषाइ॥

अपनी राजमर्यादा का उल्लंघन कर एक नीच चाकरी की वृत्ति ग्रहण करने जा रहे हो। धन-वैभव-लोलुप बन कर मेरी उपेक्षा कर रहे हो। भले ही आपको अनन्त धन राशि मिले लेकिन स्मरण रखना, वह धन तुम्हें और हमें खा जायेगा, उसी में यह घर डूब जायेगा। धन जहाँ का वहाँ गड़ा रहेगा और हमारे प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे।

विवाह होने पर दाम्पत्य-जीवन के प्रथम चरण में ही पति-पत्नी में मन-मुटाव का होना और विघटन होना सामाजिक व्यवहारों में बड़ा अपशकुन माना जाता है। समझा जाता है कि पत्नी या पति में कुछ दोष अवश्य है। अतः उन्हें सामाजिक लांछन सहना पड़ता है। दुर्भाग्य से ऐसी अवस्था में स्त्री पर तो और भी अधिक लांछनों की बौछार की जाती है और उसका जीना दूभर हो जाता है। यही बात राजमती पर घटाकर कवि नाल्ह ने अपने ग्रन्थ को अधिक लोक सम्बन्धी बनाया है और लोक-गाथा के विषय-वस्तु का अच्छा निर्वाह किया है। इसी मध्य एक बात हुई—

सात सहेलीय रही समझाइ।
निगुणी हे गुण हूबइ तउ नाहकिउ पाइ।
फूल पगर जिउं गाहिजई॥

निराश आँसू बहाते हुए राजमती बैठी थी। इतने में उसकी सहेलियाँ आकर ताने कसने लगीं—क्यों री सखी! अगर स्त्री

गुणवती हो तो उसका पति उसे छोड़कर क्यों जाए ? स्त्री के द्वारा तो पुरुष आसानी से वश में किया जा सकता है ? जिस प्रकार फूल को पगड़ी में आसानी से छुपाया जा सकता है, उसी प्रकार एक गुणवती स्त्री अपने पति को आसानी से वश में कर सकती है। यहाँ सहेलियाँ अप्रत्यक्ष रूप से यह कहना चाहती हैं कि हो न हो तुम में कुछ खोटापन अवश्य है। इसीलिये तेरा पति तुझसे रूष्ट होकर जा रहा है।

सहेलियों द्वारा अपने ऊपर यह लांछन सुन कर राजमती क्या सफाई देती ? घटित घटनाओं की गहराई में न जाकर ऊपरी स्वरूप को देखें तो सहेलियों का लांछन ठीक ही दिखता है। राजमती उम्र में छोटी हुई तो क्या हुआ, कुछ बातों को छोड़ कर वह व्यावहारिक-कार्यों में दक्ष थी। वस्तुस्थिति की गम्भीरता को भांप लेती है। वह समझ गयी कि ऐसे अवसरों में कुछ न कहना अपने पर आरोपित लांछन को सत्य सिद्ध करने में सहायक होगा। अतः वह अपनी सहेलियों को मोटे-मोटे शब्दों में रोषपूर्ण भाव से समझाती है :—

सात सहेलीय सुणउ म्हारीय बात ।
कंचूउ षोलि दिषाडिया गात्र ।
जा दीठां मुनिवर चलइ ॥

प्रिय सखियों ! सुनो, मुझ में क्या अवगुण है ? मैंने तो अपने यौवन और सौन्दर्य को, जिनको देखकर मुनिजन भी चलायमान होते हैं, उन्हें अर्पण कर दिया है और—

"त्रिया चरित मइ लष किया ।"

उन्हें मनाने के लिये स्त्री चरित्र के लाखों रंग-ढंग, अनुनय-विनय, रोना-धोना आदि साधन प्रयोग में लायी, लेकिन:—

"कहा कउ मूरषराव न जाणए खार ।"

मेरा मूर्ख राजा मेरे इस अनुनय-विनय और रुदन का सार नहीं जानता तो इसमें मेरा क्या दोष है ? मैं तो अपनी ओर से निर्दोष हूँ फिर भी—

"राउ न सषी भंइस पीडार ?"

मैं क्या करूं ! वे राजा थोड़े ही हैं, वे तो एक भैंस के चराने वाले महिषपाल हैं। उन्हें भैसों की परख है, मेरे यौवन और शृंगार का मूल्य वे क्या जानें ?

बीसलदेव के प्रति राजमती का कोप चरम सीमा पर पहुँच गया है।

अपने पति के प्रति लेशमात्र भी श्रद्धा और आदर-भाव उसके हृदय में नहीं है। सहेलियों के लांछन ने तो उसे और कुपित बना दिया है। कोप और आत्यन्तिक पीड़ा की अवस्था में जब ओठ काँपने लगते हैं तो हृदय की वेदना और चीख, अशिष्ट शब्दों के रूप में जिन्हें हम गालियाँ कहते हैं, बाहर निकल पड़ते हैं। इसीलिये राजमती के मुख से (मूर्खराज) भइंस पिडार, महिषपाल, आदि अशिष्ट शब्द निकल गए हैं। अन्यत्र भी 'मूरखराव' तीन बार प्रयोग करती है। 'मइला हो' (गन्दे मनवाला) शब्द भी उसके मुख से निकलता है। इन सब अपशब्दों के लिये बहुत से लोग राजमती के चरित्र पर आक्षेप करते हैं लेकिन ये सब उसकी आन्तरिक वेदना की कसक, क्रोध और अश्रद्धा के सूचक मात्र हैं। आत्मपीड़न के समय ऐसी प्रतिक्रिया सम्भव है। सहेलियों के लांछनों के केत से वह और सजग हुई। सोचने लगी, रनिवास में रहने वाली सखियाँ ही मुझे लांछित कर सकती हैं, तो अन्य की क्या बात? लोक व्यवहार को कौन समझावे? लोकाचार की उपेक्षा कैसे की जाय? लोक-लांछन तो और असह्य होता है और उसका सामना नहीं किया जा सकता। एक व्यवहारशालिनी स्त्री की भाँति राजमती भविष्य में आने वाली गम्भीर गर्त की गहराई को झाँक कर देख लेती है। वह आशावादिनी बन कर एक बार पुन: अपनी सारी शक्ति लगा कर अपने ध्येय-साधन में लग गयी लेकिन एक कुशल कारीगर की भाँति, एक कुशल नटी की भाँति, एक भिन्न साधन, एक भिन्न वेश धारण करके, वह राज-ज्योतिषि के पास गयी। बद्धांजलि होकर निवेदन करने लगी :—

पंडिया हुं थारी गुण केरी दासि।
जोसीडा दीह मउडउ पर गासि॥
मास चारि बिलंबाविज्यो।
तेतलइ ल्यडंगी म्हाकउ प्रीय समझावि।
देखूं हांथ कउ भूद्रडउ।
सोवन सोंगी कबिलीय गाइ॥

देखिए पंडित जी, मैं बड़े सकट में फँस गयी हूँ। आप ही मुझे इस संकट से मुक्ति दिला सकते हैं। मैं तो आपके गुणों की दासी हूँ। दया करके आप किसी तरह से अपशकुन आदि बता कर मेरे पति को और चार मास रोक लें, तब तक मैं उन्हें राजी कर लूंगी। अगर आप मेरा इतना काम कर दें तो मैं आजन्म आभारी रहूंगी। अपने मेरे हाथ की यह

बहुमूल्य अँगूठी और सोने से मढ़ी सींगों वाली गाय आपको भेंट करूँगी। अन्ततः भर्तृहरि की उक्ति सत्य सिद्ध हुई—

"यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितम् तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥"

ज्योतिषी महाराज के मुख से अपशकुन के संकेत सुन कर भी बीसलदेव ने यात्रा की तैयारी कर ही दी। अन्तिम भेंट में वह राजमती से कुछ मधुर शब्दों में निवेदन करता है :—

लाड गहेलीय हे लाड निवारी ।
तुरिय पलाणिया ऊभा छइ बार ॥
पहिर पसोलीय है चूनडी ।
कुंकम चन्दन चरचि तू गात्र ॥
दिन उगइ म्हे चालिस्यां ।
हसि हसि गोरी पूछि नइ बात ॥

हे लाडली प्रिये! अब तो कम से कम अपने लाड-प्यार को निकाल। घोड़ा सजा हुआ है, अब मैं चला। इस आत्मसंकुचन को त्याग कर, इस रोने-धोने को अलग कर, हे गोरी! जरा अपना शृंगार तो बना, अपनी मधुर वाणी तो सुना! न मालूम फिर तुम्हें मैं कब देख पाऊँगा।

परिस्थितिवश पुरुष प्रस्तर से भी कठोर हो जाता है लेकिन ऐसी अवस्था में भी जहाँ तक स्त्री का सम्बन्ध है, उसके प्रति अपने बिछुड़ने के अन्तिम क्षणों में वह नर्म हो जाता है। स्त्री यौवन, उसका शृंगार, उसकी सेवा, उसका प्रेम, ये सभी अपनी ओर उसे चुम्बक की भाँति खींचते हैं और पुरुष खिंच जाता है तथा उसके प्रेम का एक चषक-पीने के लिये मोम से भी मृदु बन कर दीन प्रार्थी बन जाता है। यही व्यावहारिक सत्य बीसलदेव पर लागू हुआ। उसने अन्तिम क्षणों में जब राजमती से प्रणय-निवेदन किया तो एक तरह से राजमती की परीक्षा का अवसर भी आया। वह पूर्ण रुष्ट है, यह सर्वविदित है क्योंकि उसके सारे अरमानों पर पानी फेरा गया है, उसके सारे स्वप्नों को भंग किया गया है, उसके सारे व्यक्तित्व को दूध की मक्खी के समान निकाल फेंका गया है। ऐसी अवस्था में पति के प्रणय-निवेदन करने पर उस पर क्या प्रतिक्रिया होगी? वह इस प्रणय-निवेदन को स्वीकार करेगी या ठुकरा देगी, इसका प्रत्युत्तर राजमती के व्यावहारिक कौशल और स्त्रीत्व के सहज स्वाभाविक गुणों के विकास पर आधारित है। यह बात भी

व्यावहारिक है कि पति कितना ही खराब क्यों न हो, वह उससे कितना ही नाराज क्यों न हो, पर अन्तिम क्षण में पतिव्रता-स्त्री के अश्रु-प्रवाह फूट पड़ते हैं और वह उन्हीं छलछल करते अश्रु-बिन्दुओं से अपने पति के चरणों को धोती है। आत्म समर्पण ही उसका स्वभाव है। पति के कार्य कितने ही हेय और तुच्छ क्यों न हो, उसकी सफलता के लिये शुभ संकल्प करना ही उसका दैनिक कार्य है। कवि नाल्ह का चातुर्य देखिए, ऐसी परिस्थिति में भी अपनी नायिका राजमती को निखरे नीलमणि के समान प्रस्तुत करता है। अपने पति की अन्तिम बिदाई के लिए राजमती सोलहों शृंगार करने लगी :—

साधण ऊभी छइ टेकि कमाइ।
कडिहि पटोली चूनडी सार ॥
काने हो कुंडल झिगमिगइ ।
पगें हो पाइल षरीय सुचंग ॥
हीरा जडित माथइ राषडी ।

कटि में रेशम की सुन्दर चूनड़ी बाँधी और कानों में कुंडल जगमगाने लगे। पैरों में स्वर्ण-पायल रुनझुन करने लगे तथा मस्तक पर हीरा जड़ित शीश-फूल चन्द्र शोभा को धारण करने लगा। साक्षात् रतिमूर्ति के समान राजमती नत-मस्तक बद्धांजलि हो, बीसलदेव के सामने आकर खड़ी हो गई मानों आंचल में दीप छुपा है। बीसलदेव उसके सौन्दर्य को निहारने में मग्न है। इतने में कोमलकान्त पदावली से रस-धारा बहाती हुई राजमती कहने लगी :—

"मोनइ सरब गति बीसरी थारी चीत।"

हे प्रभु ! मैं अपने बारे में सब कुछ भूल गयी हूँ। केवल आपकी चिन्ता मुझे सताती है :—

"स्वामी उलग जाण की षरीय जगीस।"

आपने चाकरी कर्म करने की ठान ली है। लेकिन नाथ ! चाकरी बड़ा कठिन कार्य है। राजाओं की सेवा तो और भी दुष्कर है और दुस्सह है। आप इन्हें कैसे सहिएगा। अतः राज सेवक के लिए कुछ आवश्यक बातों की शिक्षा में आपको देना चाहती हूँ—

"राज चलण करि द्यउं तो नइ सीषि।"

याद रखिये—

"बइठा राजा सभा पर धान।"

अगर सभा में राजा और प्रधान बैठे हों तो उनसे मीठी बाणी कहना और अगर :—

"तठइ राइ बोलाइसी भीतरि गोठि"

कभी राजा गोष्ठो में तुम्हें बुलाए, तो—

"कान नइडा अरु नीची द्रेठि।"

कान उनके निकट रखना और दृष्टि नीचे रहे। और यदि—

"राजा जो पूछइ मरम कइ बात।"

यदि राजा कोई रहस्य की बात पूछे तो—

"जतन करि बोलिज्यो।"

बड़े यत्न के साथ सोच-समझ कर उत्तर देना। कभी—

"जूठी सांची मत कहउ।"

झूठ मत कहना, क्योंकि हे राजन्!—

"राज नीति जिसी षंडा नी धार।"

राजनीति असि धारा है। इसे मूर्ख लोग नहीं जानते।

"मूरष लोक जाणइ नहीं।"

इसीलिये वे बुरी तरह से असफल होते हैं। लेकिन ध्यान रखिए :—

नाई साहुणी नइ घणउ देज्यो मान।
बंदड़ी सरिसउं नवि हसउ॥

नाई और साहनी को बहुत आदर देना, बाँदी के साथ मत हँसना तथा चोर, जुवारी और कल्लाल से कभी हंसते हुए मत बोलना—

चोर जुवारी नइं कल्लाल।
तिण सुं हसीय म बोलिज्यो॥

इस केन्द्र पर आकर राजमती का गुण-गौरव, ज्ञान-गरिमा और व्यावहारिक-कौशल अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। कवि नाल्ह ने यहाँ राजमती को कई रूपों में प्रस्तुत किया है। पतिहितचिन्तिका का रूप तो यहाँ स्पष्ट है ही, उसके अन्य रूप भी प्रशंस्य हैं। राजा भोज की पुत्री के नाते वह साधारण राजनीति की पूर्ण विज्ञा है और राजदरबार में छोटे-बड़ों के साथ बरती जाने वाली परिपाटियों, विनय तथा शिष्टाचारों से पूर्ण परिचित है। व्यवहार की पात्रता का भी उसे विवेक है। इस प्रकार सर्वगुणसम्पन्ना और सर्वसौन्दर्यभूषितनायिका का मिलना अन्यत्र दुर्लभ है।

इसी प्रसंग में पद्मावत की नागमती को परखिए। जब अन्त में रत्नसेन जोगी बन कर जाने लगता है तो नागमती कहती है :—

देहि असीस सबै मिलि तुम्ह माथे निति छात।
राज करहु गढ़ चित उर राखहु पिय अहिवात ॥

हे प्रिय, हम सब मिल कर आशीर्वाद देती हैं कि तुम्हारे मस्तक पर सदा ध्वज रहे, तुम चित्तौड़गढ़ में सदा राज्य करो, और हे नाथ! इस तरह हमारे सौभाग्य की रक्षा हो।

इस सोपान में रामायण की सीता, मानस की सीता, पद्मावत की नागमती और बीसलदेव रास के राजमती का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है और उचित पर्याप्त उदाहरणों द्वारा सब के गुणों का विस्तार दिया गया है। सीता महाकाव्य की नायिका है। वह ग्रन्थ की आदर्श-नायिका तो है ही, साथ-साथ समाज के लिए वह आदर्श पत्नी और अनुगम्या नारी है। नागमती भी एक महाकाव्य की उपनायिका है। हिन्दी साहित्य में उसकी भी चर्चा काफी है। राजमती एक छोटे से खण्ड-काव्य की नायिका है। हिन्दी संसार अभी उससे परिचित नहीं है। लेकिन हमनें देखा है कि गुण-गौरव ज्ञान-गरिमा और व्यावहारिक-कौशल में वह सीता और नागमती से किसी प्रकार कम नहीं है। निस्संदेह हिन्दी-जगत् के लिए राजमती राख में छिपी रत्ना है और कवि नाल्ह छिपा रुस्तम है।

तृतीय सोपान

आत्म-वेदना

पति के वियोग पर राजमती की विरह-वेदना की करुण दशा पद्मावत के नागमती से किसी प्रकार कम नहीं है। हिन्दीसाहित्य-जगत् में नागमती की विरह-वेदना बहुत ही प्रसिद्ध है। निस्संदेह बारहमासे आदि में नागमती की विरह-वेदना अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक है जिसका काफी विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। बीसलदेव रास में विस्तार की कमी है, और आलंबन तथा उद्दीपन के साधनों के रूप में प्रकृति का आश्रय नहीं के समान लिया गया है। फिर भी बारहमासा आदि का जो संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया गया है, उसमें राजमती का विरह अधिक ही है। उसकी विकलता और तड़पन सूरसागर की गोपियों से मिलती-जुलती है। कुछ मार्मिक स्थलों को उद्धृत करते हुए हम आगे इसी का अध्ययन करेंगे।

ब्राह्मण पंडित बीसलदेव के उड़ीसा गमन की सूचना देने के लिये राजमती के महल में आता है। लेकिन यहाँ की दशा देख कर चकित-सा रह जाता है। जिस प्रकार कि मंत्री सुमंत्र राम को बिदा कर जब अयोध्या लौटे तो देखते हैं कि राजा दशरथ की अति करुण दशा है—

आसन सयन विभूषण हीना।
परेउ भूमि तल निपट मलीना॥
लेइ उसास सोच एहि भांती।
सुर पुर तें जनु खसेउ जताती॥

महाज्ञानी महाराज दशरथ की अपने पुत्र वियोग में जब यह दुर्दशा है तो एक अबला कहलाने वाली नारी की अपने गति-पति कहलाने वाले प्रियपति के वियोग में क्या दशा हो सकती है? देखिए, ब्राह्मण राजमती को किस दशा में पाता है:—

नाटिका जीव न हीय डलइ सांस।
पलिग हुंती धरा भुइं पडी॥
चीर न संभालए न पीवए जी नीर।
जाणो हियउइ हरिणी हणी॥
उणिरउ मात्र उघाडा नइ विकल सरीरा।

राजमती की नाड़ियों में न जीवन के लक्षण हैं और न उसके वक्ष में श्वास ही चल रहा है। वह पलंग से भूमि पर आ गिरी है। वह न चीर सम्भाल रही है और न जल पी रही है। वह घायल हिरणी-सी तड़फ रही है। उसका गात्र खुला है और शरीर व्याकुल है। उसकी सहेलियाँ उसे घेर कर बैठी है—

"सात सहेलीय बइठी घइं आइ।"

सहेलियों के कहने पर भी वह न काढ़ा पीती है, और न औषध ही सेवन करती है—

"काढइ न पीवए न ऊषध षइ।"

उसकी सहेलियाँ उसे ढाढ़स बँधाने के लिए हर तरह से समझाती हैं—

भोली तो थी भलीय दव दन्ती है नारि।
सो नल राजा मेल्हि गयउ॥

हे भोली सखी! तू क्यों व्याकुल है। दमयन्ती तेरे से भी सुन्दर थी पर उसे भी नल राजा छोड़ कर चला गया था। इस संसार में पुरुष के समान निर्गुण, अज्ञानी और मूर्ख कोई नहीं है—

"पुरुष समउ निगुणी नहीय।"

इस पर राजमती कैसे मानती? विरह-स्मृति और तीव्र हो जाती है और विकल हो उठती है—

रोवति मेल्हि गउ घण कउ रे नाह।
सूनइ मन्दिर दीन्हीय छइ धाह।
साधण कुरलइ मोर जिमु।

सूने राजभवन में धाह दे वह चिल्लाने लगी और मोर की भाँति पीड़ा में कूक उठी। राजमती की दुर्दशा पड़ोसियों से नहीं सही गयी। वे भी उसकी वेदना में आद्रित होकर आपस में फुसफुसाने लगे—

जोवइ निसंतान बैउं वइ गया।
सषीय इणि कति नाह कोइ ऊलग जाइ॥

देखो, कैसा अन्याय है। बीसलदेव इस स्त्री-रत्न को निस्सन्तान बन्ध्या की भाँति छोड़ गया है। इस प्रकार कोई पति चाकरी पर जाता है? जरा नागमती की दशा देख ली जाय। विरह में नागमती बावली-सी हो गयी है। वह पपीहे की भाँति पिउ-पिउ रटने लगी—

पिउ वियोग अस बाउर जीउ।
पपिहा तस बोले पिउ पीऊ॥

उसकी विरहाग्नि को शान्त करने के लिए सखियाँ पंखा झलने लगीं—

पौन डोलावहिं सींचहिं चोला।
पहरक समझि नारि मुख बोला।

बीच-बीच में होश आने पर नागमती कराहने लगती है—

प्रान पयान होत केई राखा।
को मिलाय चात्रिक कै भाखा॥

प्राण जाना चाहता है, इसे कौन रक्खेगा ? कौन इसे चातक की भाषा 'पिउ' से मिलाएगा ?

यहाँ नागमती और राजमती की विरह-दशाएँ निस्सन्देह करुणाजनक हैं। दोनों समान रूप से घायल हिरणी की तरह तड़प रही हैं, किन्तु राजमती की दशा अधिक खराब है क्योंकि उसमें विरह-व्यथा की तीव्रता अधिक है। वास्तविक बात यह है कि पद्मावत में नागमती की विरहदशा बारहमासे को छोड़ कर अन्यत्र बहुत ही कम वर्णित है। बारहमासे से अलग जो विरह-दशा नागमती की है, वह अत्यन्त साधारण है। उसमें वह कसक एवं पीड़ा नहीं है जो कि राजमती की दशा में है। हमने पीछे कहा था कि राजमती की विरह-व्याकुलता कृष्ण की गोपियों से मिलती-जुलती है। कृष्ण, जब गोपियों को छोड़ कर मथुरा चले गये तो देखिये गोपियों की क्या दशा है :—

जहाँ सु तहाँ एक टकि रह गयीं, फिरत न लोचन फेरैं।
बिसरि गयी गति भाँति देह की, सुनति न स्रवननि टेरैं॥

कृष्ण चले गये, गोपियाँ विरह पीड़ित होकर प्रस्तर-मूर्ति के समान खड़ी हैं, उनकी आँखें पथरा गयी हैं। वे अपनी देह की सुधि भूल गयी हैं। उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं और उनके कान एकदम बहरा गये हैं। और यहाँ तक कि—

"सूखे बदन, स्रवनि नैननि में जल-धारा उर बाढ़ी।"

उनके बदन सूख गये हैं, आँख और कानों से निरन्तर अश्रुधारा बह रही है। गोपियों की रात भर नींद उचाट हो गयी है। ये अन्धेरी रातें जाग कर तारों की गिनती करने में ही बीत रही हैं—

"सुनि नहिं नींद परी।"

यह रसना निरन्तर प्रियतम कृष्ण का नाम रट रहीं हैं—

"जागत गिनत गगन के तारे, रसना रटत गोविन्द हरी।"

विरह-वेदना के प्रकरणों में विरही या विरहिणी की सहानुभूति, अनुवेदना और उद्दीपन के लिये प्रकृति का वर्णन साहित्य जगत् में अति प्रसिद्ध है। पशु-पक्षी और सकल जड़-जगत् भी भावुक होते हैं। उनमें भी विरह, सुख-दुःखादि जैसे भावों को अनुभावन करने के चेतन तन्तु होते हैं, संवेदनशील मानस-कण होते हैं। वे भी अपने प्रिय साथी, प्रिय मालिक और सहधर्मी के वियोग में रोते हैं, व्याकुल होते हैं और तड़पते हैं। इसी प्रकार सुखोल्लास की अवस्था में भी वे सुखी और उल्लसित होते हैं। लेकिन यहाँ सम्बन्ध का प्रश्न है और विरह की सूक्ष्म-व्यापक दशा का भी। विरहिणी का पशु-पक्षी और जड़ वस्तुओं के साथ जितना विस्तृत सम्बन्ध होगा उतना ही अधिक उसके विरह का विस्तार होगा। सूर्य किरण के कण के समान, उसके विरह-व्याकुल आहों की धूमशिखाओं से उसका सारा आत्मीय-जगत् भी धूमिल हो जाता है। बीसलदेव रास के विरह प्रकरणों में कहीं भी आलम्बन या उद्दीपन के रूप में पशु-पक्षी और जड़-जगत् का सहारा नहीं लिया गया है, अतः राजमती के विरह में प्रकृति की कोई सहानुभूति नहीं है। इससे उसके व्यक्तित्व के प्रसार की कमी स्पष्ट है। उसकी वेदना बँटी नहीं है, उसी में उसका समस्त प्रभाव समाहित है। अतः राजमती की व्याकुलता और तड़पन अत्यन्त घनीभूत है। पद्मावत में नागमती का विरह, प्रकृति विरह के रूप में अत्यन्त विशद स्वरूप पाया है। सूरसागर में भी कृष्ण के विरह से पशु-पक्षियों और नदी-नदों की व्याकुलता अत्यन्त दयनीय बनी है। वास्तव में विरह की दशाओं में प्रकृति की सहानुभूति एक सम्बल होती है। उसकी संवेदना अत्यन्त मधुर, कोमल, स्निग्ध और आकर्षक होती है। प्रसंगवश ऐसी कुछ झाँकियों का मधुपान करें। कृष्ण के विरह में धेनु-गौवें भी दूध देना बन्द किए हैं। उनके रुचिर मुख मुरझा गये हैं। तृण-पात भी ग्रहण नहीं कर रही हैं :—

"धेनु नहीं पय पिवति रुचिर मुख, चरति नहीं तृण कंद।"

गोपियों के साथ-साथ ये गाएँ, ये बछड़े, सभी दीन और मलीन-मुख हो गये हैं। वे दिन ब दिन विरह में पिघल रहे हैं—

"गोपी, ग्वाल, गाइ, गोसुत, सब, दीनमलीन दिनहिं दिन छीजे।"

इतना ही नहीं यमुना नदी का मुख भी कृष्ण के विरह में रो-रो कर स्याह हो गया है—

"देखयति कालिंदी अति कारी।"

कैसी प्रकृति की व्याकुलता, वाह रे सूरदास! तू अन्धा हुआ तो क्या हुआ, तुझमें भी तो विश्वानुभूति की चेतना है। तभी तो तू सूर है, महाकवि है। इसी प्रकार प्रकृति-विकलता की मधुरिमा जैसी शाकुन्तल नाटक में वर्णित है, वैसी हिन्दी साहित्य में ही नहीं, समग्र संस्कृत साहित्य में भी दुर्लभ है—

शकुन्तला कण्वाश्रम को त्याग कर दुष्यन्त से मिलने जा रही है। उसकी सारी सखियाँ तो सिसकियाँ भर ही रही हैं, मुनिराज कण्व के चक्षुपुटों में भी अश्रुबिन्दु छलक पड़ते हैं। इतने में एक शिष्य आकर सूचना देता है :—

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृत विरुतं कलं यतः प्रतिवचनीकृतमेभिरात्मनः॥

भगवन्! इस कोयल की कूक की ओर ध्यान दीजिये। तपोबन में शकुन्तला के साथ रहने वाले बन्धु स्वरूप वृक्ष समूह ने शकुन्तला को जाने की आज्ञा दे दी है, क्योंकि इन मूक वृक्षों के ये ही तो मुख हैं। ओह, प्रकृति का भी मानव के साथ कैसा सम्बन्ध, कैसी आत्मीयता!

शकुन्तला—"तात, लताभगिनीं तावत् माधवीमामन्त्रयिष्ये।"

पिता जी अब तो चलना ही है, जरा मैं अपनी बहन माधवी लता से तो मिल लूँ, उसकी भी आज्ञा ले लूँ, पास जाकर और आलिंगन करके—

"लताभगिनी प्रत्यालिंग मां शाखामयैर्बाहुभिः अद्य प्रभृति दूरवर्तिनी खलु ते भविष्यामि।"

लता बहिन! अपनी शाखारूपिणी बाहुओं से मुझे आलिंगन कर, क्योंकि आज से मैं तुमसे अलग हो रही हूँ।

लताओं से अनुज्ञात होकर, जब दो कदम आगे बढ़ती है, तो :—

"अहो को नु खलु एव पदाक्रान्त इव मे पुनः पुनर्वसनान्ते सज्जते।"

ओहो, यह कौन मेरे पैरों में लिपट-लिपट कर बार-बार कपड़ा खींच रहा है। मुड़ कर देखती है, दीनबदन कुरंग शावक है।

वत्स किं मां सहवासपरित्यागिनीमनुबध्नासि ननु अचिरप्रसूतोपरतया जनन्या बिना यथा मया वर्द्धितोसि, मयाविरहितमपि त्वां तातश्चिन्त-यिष्यति, तन्निवर्तस्व।

कण्व :—"वत्से बेलातिक्रमति, प्रस्थानं प्रतिपद्यस्थ ।"

बेटी, विलम्ब हो रहा है, चल दो। इन पशु-पक्षियों और लताकुञ्जों से तुम्हारा अनुराग जानता हूँ ! देख तेरे विरह में—

"उद्गलितदर्भकवला मृगी परित्यक्त नर्तना मयूरी अपसृतपांडुपत्रा मुञ्चति अश्रु इव लता ।"

हरिणी अपने मुँह से कुश का ग्रास उगल रही है, मयूरी ने नाचना त्याग दिया है, और लताएँ पीले-पीले पत्ते गिरा कर मानो आँसू बहा रही हैं। इस करुण दशा को देख कर शकुन्तला की आँखों में आँसू भर आये। कहने लगी, हे पिता जी इन हरिण-शावकों की, इन माधवी लता कुञ्जों की तथा इन कोयल-मयूरी आदि पक्षियों की रक्षा, पालन पोषण मेरे ही समान होनी चाहिये—

"अहमिव इमाः त्वया चिन्तनीयाः ।"

और समय-समय पर इनका समाचार देना :—

"कमपि प्रियनिवेदकं विसर्जयिष्यसि ।"

आप मत भूलिएगा—

"मा विस्मरिष्यसि ।"

आँसू पोंछती हुई शकुन्तला आगे बढ़ी—

"इति च रुदती प्रस्थिता ।"

आहा ! प्रकृति के साथ मानव का कैसा तादात्म, कैसा अनुराग, कैसा स्नेह, कैसी तल्लीनता, कैसी एकात्मकता, कितना सुन्दर, मधुर, स्वच्छ निर्मल वातावरण है। वाह रे कवि कुलश्रेष्ठ कविराज शिरोमणि कालिदास धन्यस्त्वं भारतभूमिभागे, आज के वैज्ञानिक युग में छायावाद और रहस्यवाद की छत्रछाया में रहते हुये भी उस निर्मल अनुभूति से हम कोसों दूर हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न-चिह्न है। इसके बाद बीसलदेव रास में बारहमासे का प्रकरण शुरू होता है। प्राकृतिक वातावरण और सान्निध्य के प्रभाव से विरह-वेदना में उतार-चढ़ाव होता है। प्रकृति के सारे उपकरण ऋतु के अनुकूल अपने प्रभाव बदलते रहते हैं। एक समय पर जो दृश्य सुखदायी होता है वह अन्य समय में दुखदायक भी होता है। इसी विषमय प्रभाव के कारण बारहमासे का प्रकरण अपना विशिष्ट साहित्यिक मूल्य रखता है। काव्य परम्परा में बारहमासे की चर्चा काफी पुरानी है। विशेष कर विरह प्रकरणों में तो इसका उल्लेख अंशतः या पूर्णतः हो ही जाता

है। कवि नाल्ह ने इसी परम्परा का अनुगमन कर अपने छोटे से ग्रन्थ के सीमित छन्दों में बारहमासे का चित्रण बड़े मार्मिक ढंग से किया है। यह कवि-कौशल ही समझना चाहिये। सूरदास की गोपियों में किसी से कम विरह तड़पन नहीं है, फिर भी सूरदास में बारहमासे की परम्परा टूट गयी है। गोपियाँ ऋतुओं से प्रभावित जरूर हैं, लेकिन ऋतुओं का कोई क्रमवद्ध विशद वर्णन नहीं पाया जाता फिर भी कुछ ऋतिओं का उल्लेख जरूर पाया जाता है—

सरद बसन्त सिसिर अरु ग्रीषम।
हिम-रितु की अधिकाई॥

और—

रितु बसन्त अरु ग्रीषम बीते।
बादर आए स्याम॥

इन ऋतुओं की चर्चा मात्र है। वे आती हैं और चली जाती हैं। उनके प्रभाव का कोई जिक्र नहीं है केवल वर्षा ऋतु का विशद और आकर्षक वर्णन देखने को मिलता है, इसकी चर्चा आगे हम प्रसंगानुसार करेंगे।

साहित्य मर्मज्ञ विद्वद्वर डॉ० माताप्रसाद जी गुप्त के शब्दों में—"बीसलदेव रास का बारहमासा हिन्दी के आदिकालीन बारहमासों में से है और यह किसी भी बारहमासे से टक्कर ले सकता है।" अब देखना यह है कि इस वर्णन में राजमती प्रकृति से कितना प्रभावित होती है और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उसकी विरह-वेदना में कितना उतार-चढ़ाव होता है। विरहिणी के लिए यह एक परीक्षास्थल होता है। विरह की तीव्रता तो ज्ञात होती ही है लेकिन साथ-साथ वेदना की कसक से कसी जाकर अपने प्रियतम के प्रति जो उद्‌गार निकलते हैं, उनसे भी कुछ रहस्यात्मक बातों का अनुमान होता है। इन्हीं रहस्यों से स्त्री के चरित्र के गुप्त बातों का उद्‌घाटन होता है। अतः हम इसी आधार पर राजमती के चारित्रिक विकास और विशेषताओं का नागमती से तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

(१) कातिक मास :—चलियउ उलगाणउ कातिग मास।
तठइ पंथि सिरि नयण गमइया रोइ॥
भूष गई त्रिस उचटी।
कहि न सषीय नींद किसी परिहोइ॥

हे सखियों! जब से वे गये हैं उनके मार्ग में सिर दिये रो-रो कर

मैंने अपने नेत्र गंवा दिये। मेरी भूख जाती रही। तृष्णा भी उचट गयी। फिर नींद कैसे आये! उधर नागमती कहती है—

कातिक सरद चन्द उजियारी।
जग सीतल हौं विरहैं जारी॥

हे सखि! चन्द्रमा शीतल है, लेकिन फिर भी मैं विरहाग्नि में जल रही हूँ और—

सखि! मानहिं तेवहार सब गाइ देवारी खेलि।
हैं का खेलौं कन्त बिन तेहि रही छार सिर मेलि॥

सारी सखियाँ खेल रही हैं, गा रही हैं, मैं तो कुछ भी नहीं कर पा रही हूँ। मुझे तो कन्त के बिना कुछ भी ठीक नहीं लगता। मैं अपने सिर में धूल डाल रही हूँ।

(२) मार्ग शीर्ष :—माग सिरियइ दिन छोटा जो होइ।
सषीय सन्देसउ न पाठवइ कोइ॥
संदेसइ ही बज पडयउ।

राजमती खीज कर कहती है—सखी देखो तो, एक भी सन्देश नहीं आया। कदाचित् सन्देशों पर बिजली गिर गयी है। इसी बात को गोपियाँ देखिए कितनी खीज कर कहती है :—

संदेसनि मधुवन कूप भरे।
अपने तौ पठवत नहिं मोहन, हमरे फिरि न फिरे॥

हे सखियों! ऐसा मालूम होता है कि सारे सन्देश मधुवन के कुएँ में गिर कर धँस गये हैं क्योंकि न उनके समाचार आते हैं और न हमारे भेजे गये सन्देश ही लौटते हैं।

नागमती अपने पति-सन्देश की अपेक्षा नहीं करती। स्वयं संदेश भेज रही है—

प्रियसों कहो संदेसरा ऐ भंवरा ऐ काग।
सो धनि विरहें जारि गई तेहिक धुआ हम लाग॥

निस्संदेह, नागमती बड़ा मार्मिक सन्देश भेजती है। वह जल रही है, उसके धुएं से भौरा और कौवा काले हो गये हैं।

(३) पौष मास :—जाड़े का मौसम है। जाड़े के कंपन ने विरहिणियों के कंपन में योग दिया है। राजमती कहती है—

घण मरतीय को मत दीयउ दोस।
दुषि दाधी पंजर हुई॥

हे सखी ! यह मेरा शरीर जल कर राख हो रहा है। अगर मैं मर जाऊँ तो मुझे दोष न देना। नागमती की भी यही हालत हो गयी है—

विरह बाढ़ि भा दारुन सीऊ।
कंपि कंपि मरौ लेति हरि जीऊ ॥
रकत भरा आंसू भए हाड भए सब संख ॥

(४) माघ मास :—ठिठुरा देने वाली सर्दी पड़ रही है। सर्वत्र पाला पड़ रहा है। राजमती कहती है—

दाधा छइ बनषंड कीधा छार।
आप दहन्ती जग दहयउ ॥

हे सखि ! सारा बन जल कर राख हो गया है। मेरी चोली के भीतर भी जलन हो रही है। सारा जग जलता हुआ-सा दीखता है। नागमती भी इसी तरह जल रही है :—

"तेहि पर विरह जराइ के चहै उड़ाया झोल।"

ऐसी अवस्था में दोनों हो अपने पतियों को बुला रही हैं। राजमती बुलाती है—

जोवन छत्र उभोहियउ
म्हा की कनक काया माहे फेरबी आंण ॥

हे नाथ ! शीघ्र आओ। यौवन का क्षत्र उमड़ा हुआ है। मेरो कनक-काया पर आन फेर जाओ अन्यथा वह व्यर्थ ही जल जायेगी। नागमती कहती है :—

आइ सूर होइ तपु रे नाहाँ।
तेहि बिनु जाड़ न छूटे माँहा ॥

(५) फागुन :—फागुन मास का आगमन हुआ है। तेज हवा से वृक्षों के पत्ते फरफरा रहे हैं। राजमती कहती है—

"चितइ चमांकयउ निसि नींद न भूष।"

एकदम वह उस फरफराहट से चमक जाती है। घबरा गयी है। उसे रात में न नींद आती है और न भूख ही लगती है। अतः खीज कर कहती है—

"म्हा कउ मूरख राउ न देषइ आइ।"

वह मूर्ख राजा कम से कम आ कर हमारी दशा भी नहीं देखता। नागमती तो पेड़ों की पत्तियों के समान पीली पड़ गयी है। उसे

भय है कि विरह-पवन के झकझोर से वे पत्ते (शरीर) भी गिर जायँगे—

तनु तस पियर पात भा मोरा।
विरह न रहै पवन होइ झोरा ॥

(६) चैत्र :—चैत्र मास आ गया है। बसन्त की धमार शुरू हो गयी, सारी प्रकृति खिल उठी है। रङ्ग-बिरंगे वेश धारण कर सखियाँ आकर राजमती से कहती हैं—

चालउ सषी आणे षेलण जाइ।
आज दीसइ सु काल्हे नहीं ॥

हे सखि! चलो खेलें, बड़ा सुन्दर मौसम है। ये दिन फिर न आयेंगे। इस पर राजमती कहती है—

म्हे किउँ होली हे षेम्हण जांह।
उलगाणइ की गोरड़ी ॥

मैं तुम्हारे साथ कैसे खेल सकती हूँ? मैं तो एक सेवक की स्त्री हूँ। बसन्त के सारे सौन्दर्य को निहार कर नागमती इतना भर कह पाती है और कसक कर रह जाती है—

"मो कहँ फूल भये जस काँटे।"

(७) बैशाख :—बैशाख मास आ गया है। सूर्य की तपन बढ़ रही है। सर्वत्र खेतों को पानी से सींचा जा रहा है। सारी प्रकृति जल से तृप्त की जा रही है। यह देख कर राजमती तड़प उठती है। उसे अनुभव हो रहा है कि वह सूर्य के तपन और विरहाग्नि के तपन से सूखी जा रही है। उसे कोई जल से सींचने वाला नहीं है। अपने पति पर खीज कर कहती है वह मूरख राजा मेरा महत्त्व क्या जाने—

"म्हाकउ मूरख राउ न जाणइ सार।"

नागमती भी दोनों तरह से जल रही है। एक तरफ सूर्य की तपन, और दूसरी ओर प्रियतम की वियोगाग्नि लेकिन इस पर भी उसे अपने पति पर खीज नहीं है। वह विनय से प्रिय को क्षमा रूप में आने के लिए निवेदन करती है—

जरत बुजागिनि होउ पिय छाहाँ।
आइ बुझाउ अंगारन्ह माहाँ ॥

(८) ज्येष्ठ :—जेठ मास प्रारम्भ हुआ। सारा संसार जलने लगा। लू में सारे जड़-चेतन तड़पने लगे। राजमती कि स्थिति यह है कि—

"अनल जलइ धण पर जलइ।"

वह प्रज्वलित अग्नि में जलने लगी। नागमती भी जल कर कालिन्दी नदी सी काली हो गयी है—

"दहि भइ स्याम नदी कालिंदी।"

(६) आषाढ़ :—आषाढ़ मास प्रारम्भ हो गया है। नाले खलबल करते बहने लगे हैं। मेघ गरजते हुए प्रमत्त हाथी के समान इधर से उधर झूम रहे हैं। इस घोर गर्जन में राजमती को अपने पति की कुशलता की चिन्ता है। वह सोच रही है—

'तिहि धरि ऊलग काइं करेइ।'

एक तो चाकरी, और दूसरा ऐसा भयंकर वातावरण न मालूम वे कैसे होंगे ? पावस ऋतु विरहिणियों के लिये अभिशाप मानी गयी है। अतः विरह प्रसंगों में इस ऋतु का साँगोपांग वर्णन होता है। बिजली की चमक, मेघों की गरज, वर्षा की झड़ी आदि का दृश्य विरहाग्नि में—घी का काम करते हैं। अतः बारहमासे का प्रकरण जहाँ न भी हो वहाँ वर्षा ऋतु का वर्णन अवश्य पाया जाता है। सूरदास ने वर्षा ऋतु का वर्णन विशद रूप में किया है। गोपियों के लिए शेष ऋतु कोई प्रभाव नहीं रखती। वे तो वर्षा ऋतु से अधिक परेशान हैं—

अब वरषा के आगम आयो।
रितु बसन्त अरु ग्रीषम बीते, बादर आये स्याम।

बसन्त और ग्रीष्म ऋतुएँ बीत गयी हैं। अब वर्षा प्रारम्भ हुई है। आकाश काले मेघों से छाया है। गोपियाँ आपस में कहती हैं—

"सदा रहति वरषा रितु हम पर, जब तै स्याम सिधारे।"

हमारे लिये सदा ही वर्षा ऋतु रहती है। क्योंकि :—

"निसिदिन बरसत नैन हमारे।"

अहर्निश हमारे नयन बरसते ही रहते हैं और—

"सखि इन नैनन तैं घन हारे।"

ये बादल भी हमारे इन नयनों से हार जाते हैं। इसलिये कि वे बादल तो २-४ मास ही बरसते हैं। हमारे ये नयन तो बारहों मास आसुओं की झड़ी लगाये रहते हैं और हे सखियों—

"पावस जरै सूर के प्रभु बिन, तरफत रैनि बिहाई।"

यह पावस भी हमारे लिए अभिशाप है। प्रियतम के बिना हम तो जल ही रही हैं, यह तो और हमें जलाने आया है।

मानस के तुलसी ने भी इस पावस का अच्छा प्रयोग किया है। किष्किन्धा काण्ड में :—

वर्षा काल मेघ नभ छाए।
गरजत लागत परम सुहाए ॥

वर्षा काल प्रारम्भ हो गया है, नभ मेघाच्छन्न हैं। उनकी गरज बड़ी सुहावनी है। लेकिन विरही रामचन्द्र कहते हैं—

घन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥

हे कनिष्ठ लक्ष्मण! आकाश में बादल घोर गर्जन करने लगे। सीता के वियोग से मुझे डर लग रहा है। त्यागमूर्ति, वीर श्रेष्ठ पुरुषोत्तम भी पावस ऋतु से परेशान हैं। वाह रे पावस! वाह रे विरह!! वाह रे विरही-विरहिणी !!!

(१०) श्रावण :—श्रावण मास का शुभागमन हुआ। रिमझिम-रिमझिम वर्षा की झड़ी लग गयी। बड़ा सुहावना समय है। पपीहा पिउ-पिउ कर रहा है, सखियाँ कजली खेल रही हैं लेकिन राजमती को यह सुहा नहीं रहा है। वह मरने की सोच रही है—

"प्रीय बिण जीविजइ कि सइ अधारि।"

नागमती की भी लगभग यही दशा है पर वह मरने की बात नहीं सोचती है। लेकिन :—

"सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला।"

सखियों के हिंडोले को देख कर—

"हिय हिंडोल जस डोलें मोरा।"

अपने हृदय को हिंडोल के समान नीचे-ऊपर उछलते देख कर वह भयभीत है। गोपियाँ भी बड़ी व्याकुल हैं :—

"दादुर मोर चकोर मधुप पिक, बोलत अमृत बानी।'

लेकिन—

हरि परदेस बहुत दिन लाए।
कारी घटा देखि बादर की, नैन नीर भरि आये।

(११) भाद्रपद :—भादों आया, मूसलाधार वर्षा और मेघों के घोर गर्जन से राजमती घबड़ा गयी है। अपने स्वामी को धैर्य देने के लिये बुला रही है -

"हूं ती गोसामी नइ एकली।"

हे स्वामी ! इन भयंकर परिस्थितियों में कैसे जी सकती हूँ ? एक तो नारी हूँ, दूसरे अकेली। शीघ्र आइये। जब उसे मालूम हुआ कि बीसलदेव इस संकटकाल में भी नहीं आ रहा है तो चिढ़कर वह कहती है। वह कैसा मूर्ख राजा है कि कम से कम एक बार इस भयावने समय में आकर हमें देख भी नहीं जाता—

"मूरख राउ न देषई जी आई।"

नागमती भी मेघ के गर्जन और बिजली की चमक से घबरा गयी है। वह भी अपने पति को बुला रही है—

धनि सूखी भर भादों माहां।
अब-हूँ आइ न सींचति नाहाँ॥

हे स्वामी ! इस भरे भादों में भी मैं सूख रही हूँ। आप आकर इसे सींचिये। लेकिन इतने पर भी स्वामी नहीं आये। नागमती को राजमती के समान इस पर खीज नहीं आती, वह पुनः अपने स्वामी को बुलाती है—

"धनि जोबन औगाह मंह दे बूडत पिय टेक।"

सर्वत्र जल-प्रवाह देख कर नागमती डर गयी है। ऐसा अनुभव कर रही है कि उसका सारा यौवन उन प्रवाहों में कीचड़ बन कर बहा जा रहा है। गोपियों की भी यही दशा है :—

घुमरि घुमरि बरषत छांड़त, डर लागत अंधियारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखे, बिनु गिरिधर वर हमारे।

आगे गोपियाँ कहती हैं :—

"किधौ घन गरजत नहिं उन देसनि।"

उस मधुवन में घन नहीं गरजते ? क्या वहाँ बिजली नहीं कड़कती ? क्या प्रियतम कृष्ण को भय नहीं लगता ? तभी तो वह नहीं आये। अन्यथा कभी के दौड़े आते। हमारे बिना उनके भय का निवारण कौन करेगा ?

(१२) आश्विनः—अन्त में आश्विन आ गया। सर्वत्र जल घट रहा है। आकाश निरभ्र हो गया है। राजमती को पूर्ण विश्वास हो गया है कि अब तो अवश्य प्रिय आयेंगे। अतः वह घर की सफाई और सफेदी करवाती है ताकि प्रिय का स्वागत धूमधाम से किया जा सके—

गउष चडी हरषी फिरइ।
जउ घर आविस्यइ मुंध भरतार॥

वह हर्षित मना होकर गवाक्ष पर चढ़ कर प्रिय का मार्ग देखने लगी कि कदाचित् मेरा मूढ़ प्रिय अब आ रहा हो। किन्तु नागमती को प्रिया-गमन का ध्यान ही नहीं है और न उसे आशा ही है। वह विरह-व्यथा से अधिक त्रस्त है। इसलिए उससे संरक्षण पाने के लिये वह पति को बुलाती है :—

विरह हस्ति तन साले खाइ करे तन चूरा।
बेगि आइ प्रिय बाजहु गाजहु होइ सदूरा ॥

हे नाथ ! विरह रूपी हाथी मुझे कष्ट दे रहा है। तुम सिंह बन कर गरजो ताकि वह मुझे छोड़कर भाग जाए। गोपियों की दयनीय दशा देखिये, झरोखों से झाँक-झाँक कर प्यासी आँखों से प्रिय का पथ निहार रही हैं।

हरिदरसन को तरसहिं अँखियाँ।
झाँकति-झांकति झरोखा बैठि कर, मीडंति ज्यों भखियाँ।

इस प्रकार हमने देखा कि बारहमासे के प्रकरण में राजमती प्रकृति से पूर्ण प्रभावित होकर विभिन्न रसों में संचरित होती है। वह पूर्ण अनुभूति शील है। छोटी उम्र के कारण न उसमें संवेदनशीलता का अभाव है और न एक प्रौढ़ा के कठिन हृदयत्व का प्रदर्शन। विस्तार को ध्यान में न लायें तो नागमती से भी राजमती की संवेदना शक्ति तीव्रतर है, अनुभूति सूक्ष्म है और पीड़ा घनी है। इसीलिये तो वह कभी-कभी खीज जाती है, चिढ़ जाती है और अपने पति को अनेक बार 'मूरष राउ' मूर्खराज, 'मुघ भरतार' मूढ़ पति, 'मइला होय' मन के मैले, 'भइंस पीड़ार' महिषपाल आदि अपशब्द कहती है। और यहाँ तक कि पग-पग पर इसका अपराध तुम्हें लग रहा है, इस जन्म में तुम चाकर ही हुए हो किन्तु अपर जन्म में तुम काले सांप होगे, आदि अशुभ संकल्प भी करती है—

पगि पगि तो नइ पहूंच रे पाप।
इणि भवि उलगाणइ हुअ।
अवर भवि होयउ कालउ साप ॥

इसके तीन कारण हो सकते हैं। प्रथम, उसमें अपने पति के प्रति आदर्श-भक्ति भाव की कमी है, क्योंकि वह जानती है कि उसका पति कोई प्रशंसनीय कार्य पर नहीं गया है, धन-लोलुप हो चाकरी स्वीकार कर लिया है, उसके लाखों अनुनयों को ठोकर मार दिया है।

ऐसी अवस्था में किसी भी साधारण नारी में अपने पति के प्रति श्रद्धा नहीं रहती। तब राजमती से कैसे आशा की जा सकती है? द्वितीय, वेदना की तीव्रता है। दुखी अवस्था में कठोर शब्द निकलना स्वाभाविक है। तृतीय, बीसलदेव रास ग्रन्थ लोकगीतों में लोक भाषा से एक लोक-गाथा के रूप में लिखा गया है अतः व्यवहार में लोक-शैली अर्थात् मोटापन आना स्वाभाविक है। अतः राजमती के चरित्र पर आरोप लगाने का कोई कारण नहीं है।

संदेश भेजना :—बारह मास बीत गये। प्रिय नहीं आये। दिन-रात गवाक्ष पर बैठ कर पथ निहारते-निहारते आँखें पथरा गयी हैं। इतने में सास आकर कहती है—

सासु कहइ बहू घर माहे आवि।
चन्दरइ भोलइ गिलेसी राह।

बहू कब तक ऐसे बैठी रहोगी! यह देख, चाँद सिर पर आ गया है। कहीं राहु भूल कर तुझे चांद समझ कर ग्रस न ले। अचानक राजमती की आँखें चमक गयीं! अन्त में—

अस्त्रीय जुनम काइं दीधउ महेस।
अवर जनम थारइ घणा रे नरेस॥

महेश पर भी खीज कर उन्हें कोसने लगी कि हे ईश्वर, तेरे पास तो अनेक जन्म थे। मुझे किसी में तो डाला होता! तू ने स्त्री जन्म ही क्यों दिया। कम से कम मुझे तू बनखण्डों में घूमने वाली कोयल ही बनाता—

"बनषंड काली कोयली।"

जिससे मैं उड़-उड़ कर कभी आम्र वृक्ष पर बैठती और कभी चम्पा की डाल पर बैठती—

'हुउं बइसती अंबा नइ चंपा की डाला।'

और मजे से अनार के बीजों को खाती रहती :—

"भषति द्राष बीजोरडी।"

अगर आपको यह भी पसन्द न आया हो तो हे करतार! मुझे जाटनी ही बनाता—

"आंजणी काइं न सिजीय करतार।"

ताकि अपने पति के साथ खेत कमाती—

"षेत्र कमावती स्यउं भरतार।"

श्रौर—

"पहिरिए श्राछी लोवडी।"

सुन्दर-सुन्दर ऊनी वस्त्रों को पहिन कर—

"हँसि-हँसि बूझती प्रीतणी बात।"

प्रियतम से हँस-हँस कर बातें करती। क्या मजा श्राता!

श्रस्तु, यूँ रोने-धोने से कुछ नहीं होने का। वह कलम-दावात सँभाल कर बैठ गई श्रौर—

"श्राप हस्तइ चीरी लिषी गोरडी।"

श्रपने हाथ से पत्र लिखा श्रौर पण्डित को बुलाकर कहने लगी:—

तावडउ गिरिए ज्यों न छाहडी।
म्हारी चीरी राषिज्यो जिउँ भारइ जीव॥

हे पण्डित! धूप-छाँह की परवाह न करना। इस चिट्ठी को प्राए के समान रक्षा करते हुए प्रियतम के पास पहुँचाना श्रौर कहना:—

"नाल्ह म्हारा दुष सहिसी कउए।"

मेरा दुख कौन सह सकता है श्रौर:—

"म्हेतउ पलिग तज्यउ नइ परहरयउ लूए।"

मैंने पलंग पर सोना छोड़ दिया है। नमक श्रौर पान सुपारी भी विष समझ कर त्याग दिया है:—

"पान सोपारीय बिस बउइ।"

श्रौर यह भी कहना कि कंचुन फट गया है—

"फटिउ रे कञ्चुयउ।"

श्रौर शरीर के सारे कपड़े फट गये है:—

"फाटउ तु चीर।"

श्रौर यह शरीर भी दावाग्नि में लकड़ी के समान जल रहा है:—

"जिम दब दाधी लकड़ी।"

श्रौर यह भी कहना कि:—

कठिन पयोहरं तिज्यउ पराए।
बालउ जोवन षिसि गयउ॥

ये मेरे कठिन पयोधर निष्प्राए हो गये हैं। बाल-यौवन खिसक गया है। हे ब्राह्मए! कृपाकर यह श्रवश्य कहना:—

कुलकी रे बेटीय सील जंजीर।
जोवन राषउ मइ चोर जिउं॥

मैं अभिजात कुल की कन्या हूँ। अतः मैं हमेशा शील को जंजीर में बाँधे रखती हूँ। इस यौवन की रक्षा चोर के समान छुपा-छुपाकर कर रही हूँ। लेकिन हे पण्डित ! ध्यान रहे यह सारा सन्देश ऐसी चालाकी से प्रियतम को सुनाना जिससे उन्हें क्रोध न आये—

"तिमि कहि ज्योजिम प्रीय न रिसाई"

सूरसागर में गोपी-विरह प्रसंग बड़ा मनोहर, आकर्षक और दयनीय है। कुछ दृश्य प्रस्तुत हैं—

"नाथ अनाथनि की सुधि लीजे।"

हे नाथ ! आप आकर इन अनाथों की सुधि तो लीजिये। अगर आप न भी आयें तो कम से कम—

इतनी बिनती सुनहु हमारी,
बारक हूँ पति या लिखि दीजे।

एक पत्र तो लिख भेजिए। लेकिन कई दिन हुए कोई भी पत्र न आया। गोपियाँ खीज कर व्यंग कसने लगीं—

"लिखि नहीं पठवत है द्वै बोल।"

दो शब्द भी लिखकर नहीं भेजते। क्या कागज और स्याही के लिए उनके पास दो कौड़ियाँ भी नहीं—

"दौ कौड़ी के कागद मसि कौ, लागत है बहु मोल।"

खैर, वे नहीं लिखते तो हम ही लिखेंगी—

"पतियां पठवती मसि नहीं खूंटति, लिखि लिखि मानहु धोवति।"

हाय रे भाग्य ! लिखना भी तो नहीं आता। आखिर गँवारिन जो ठहरीं, टेढ़ा-मेढ़ा भी तो नहीं लिखा जाता। ये अश्रु-बिन्दु टपटप गिरते हुए स्याही को धोकर यमुना में बहा रहे हैं। तभी तो यमुना नीली हैं।

राजमती के गुप्त पत्र में क्या लिखा गया है, यह रहस्य अभी अज्ञात है। वह और अधिक महत्त्वपूर्ण और श्रवणीय होगा। अतः सहेलियाँ आकर राजमती को घेर लेती हैं और चिट्ठी के रहस्योद्घाटन के लिए आग्रह करने लगती हैं। तंग आकर राजमती को रहस्यावरण हटाना ही पड़ा :—

साम्हइ हिय डलइ जीमणी कूंषि,
दुइ नष लाना नाह का।

आप सभांणी करती आलि—
धरण बिसहर प्रीयउ गारुडी।
आउ सामी मारा डंक संभालि॥

हे नाथ! दाहिने कोख के पास हृदय पर दो आपके नाखून के निशान बने हैं। मैं आपकी याद में उनकी रक्षा अपने प्राण के समान कर रही हूँ। हे स्वामी! यह स्त्री (मैं) विषधर है, और तुम गारुडी (मंत्रोपचार कर्त्ता) हो। शीघ्र आकर इस डंक को—नाखून के निशान को—सँभालो। स्त्री के शरीर का निशान अन्यों के लिये गुप्त वस्तु है। पति के बिना कौन उन्हें जानता है! अतः राजमती इस गुप्त-चिह्न को देकर ब्राह्मण को भेजती है ताकि उसका पति उस पर विश्वास कर ले। जैसा कि राम के कनकागुंलीयक को देख कर सीता को विश्वास हो गया था कि हनुमान राम का दूत है। और इसी चिह्न के अभाव में शकुन्तला दुष्यन्त से ठुकराई गयी, जिसका परिणाम अत्यन्त निःसीम दुखद हुआ।

इस प्रकार कवि नाल्ह ने राजमती की बहुज्ञता और सूक्ष्मता दिखाया है। यहाँ उसके सारे सन्देशों में कई सूक्ष्म बातें उसके चातुर्य और व्यावहारिक वैदग्ध्य का बोध कराती हैं। विरह में अपनी बाहरी स्थिति के बारे में बता कर, आन्तरिक आत्मचरित की चर्चा करना उसकी सजगता की निशानी है। पति को ऐसा सुनाना कि वे क्रोध में न आयें, यह व्यावहारिक ज्ञान और शिष्टता का प्रतीक है। सूक्ष्म नाखून के घावों का अभिज्ञान देकर भेजना, उसकी सूक्ष्मता और बहुज्ञता का अकाट्य प्रमाण है।

इसी प्रसंग के सम्बन्ध में पद्मावत में नागमती का सन्देश अति प्रसिद्ध है। उसका भी अवलोकन करें। विरह में निद्रा से उचाट होकर नागमती जहाँ-तहाँ बावली होकर रात-दिन घूमती है। इतने में एक पक्षी आकर कहता है:—

तै फिरि फिरि दाधे सब पांखी।
केहि दुःख रेनि न लावसि आंखीं॥

हे स्त्री! तू इधर-उधर घूम-घूम कर सारे पक्षियों को जला डाल रही है। तुझे क्या दुःख है कि रात-रात भर तेरी आँखें नहीं लगतीं? इस पर नागमती दुःखी-भाव से रोते-रोते उत्तर देती है:—

"का सोवे जो कन्त बिछाई।"

हे पक्षी! कन्त के वियोग में कहीं नींद भी आती है। देखो—

"कहिसि जाति हो सिंघल द्वीपा।"

मेरा पति मुझे छोड़ कर सिंह द्वीप चला गया है। तब से ये नेत्र सीप की भाँति उस स्वाति प्रियतम का पथ निहार रहे हैं—

"तेहि सेवति कंह, नैना सीपा"

जब से वे गये हैं तब से किसी ने आकर उनका सन्देश नहीं सुनाया :—

"तब हुत कहा संदेसन काहू।"

प्रतिदिन जोगी और जंगमों से पूँछती हूँ, लेकिन कोई समाचार नहीं देता—

"निति पूछौ सब जोगी जगम।"

मेरे लिए तो चारों दिशाएँ उजाड हो गयी हैं—

"चारिउ चक्र उजारि"

हे पक्षीराज ! क्या तू अपने ऊपर यह सन्देशा ले सकता है—

"ये सकसि सन्देश टेकू।"

यदि हाँ तो मैं अपनी विरह व्यथा कहूँ, यदि तू घड़ी भर बैठ कर सुने—

"कहो विरह दुख आपन बैठि सुनहिं दंड एक।"

हे पक्षी, उनसे कहना—

जहाँ सो कंत गए होइ जोगी।
हो किंगरी भैं झुरौ वियोगी॥

जब से तुम वियोगी बन कर गये हो, तब से मैं भी वियोगिनी बन कर सूख कर किंगरी हो गयी हूँ और हड्डियाँ सूख कर किंगरी बन गई हैं :—

"हाड भए झुरि किंगरी नसै भई सब तांति।"

अन्त में हे विहंगम, मेरी व्यथा यूँ कहना कि रोम-रोम से उसी की धुन उठ रही है :—

"रोवं रोवं तन धनि उठै।"

यह है नागमती सन्देश खण्ड ! एक दो अनावश्यक बातों को छोड़ कर उस सन्देश का पूरा स्वरूप यही है। पीछे वर्णित राजमती सन्देश और यह नागमती सन्देश अपना-अपना स्थान रखते हैं। लेकिन निष्पक्षतः पक्षव्यामोह से दूर होकर अगर हम उनका मूल्यांकन करें तो स्पष्ट शब्दों में यह कहना पड़ेगा कि राजमती-सन्देश की तुलना में नागमती के सन्देश में न सूक्ष्मता है और न भावात्मकता है; न चातुर्य है और न व्यावहारिक कौशल; न गोप्य भाव है न बुद्धिगत चातुर्य; न संवेदनात्मक

संकेत है और न नाटकीय ढंग ही है। विस्तार भी प्राय: नहीं है। भले ही नागमती के संकेत को उस पक्षी ने नमक-मिर्च लगाकर रत्नसेन को सुनाया हो।

इसी तरह तीसरे सोपान में भी निस्सन्देह राजमती का वियोग वर्णन बड़ा ही आकर्षक बन पाया है। कवि नाल्ह ने सूत्र-शैली में राजमती की संवेदनात्मक झांकियाँ बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि परवर्ती सारे हिन्दी साहित्य में वियोग प्रकरण इसकी व्याख्या मात्रा हैं। इस सोपान में हमने कई प्रसंग ऐसे दिये हैं जैसे, 'शाकुन्तल' से आदि-आदि, जो अनावश्यक और अप्रासंगिक मालूम हो सकते हैं लेकिन वास्तव में ये सारे वर्णन इस सोपान के वातावरण में सने हुये हैं। इन अवतरणों के प्रभाव से हम राजमती को और अच्छी तरह समझने लगेंगे। उस नायिका का साहित्यिक व्यक्तित्व प्रदर्शन ही हमारा ध्येय है।

चतुर्थ सोपान

आत्म-चरित्र

'संकटकाले मित्र परीक्षा' संकट काल में ही अपने पराये की परीक्षा होती है। किसी स्त्री की वास्तविक चारित्रिक परीक्षा पति के दुख-दारिद्रय में, या वियोग की अवस्था में ही सम्भव है। पति के साथ रहने पर दुःख-दारिद्रय में भी अपना चरित्र शुद्ध रखा जा सकता है, चाहे भय से, चाहे भक्ति से, लेकिन प्रोषित-पतिका के रूप में एक लम्बे समय तक मनसा, बाचा और कर्मणा शुद्ध चरित्र रखना अति कठिन है। हम भले ही तदर्थ अनेक यत्न करें, फिर भी नाना संकट और विषम परिस्थितियाँ ऐसी आ ही जाती हैं कि एक बार वे हमें पूरी शक्ति से डिगाने का यत्न करती हैं। इसका सामना करने के लिए अधिक साहस, दृढ़ निश्चय और कष्ट-सहिष्णुता की क्षमता आवश्यक है। और वही स्त्री ऐसा कर सकती है जिसके लिए शील जंजीर है, वही आदर्श है। बारह वर्ष के लम्बे विरह में राजमती के चरित्र का क्या स्वरूप था, इस चरित्र-रक्षा में किन सकटों का सामना करना पड़ा आदि बातें जो पिछले प्रकरणों में नहीं आयी हैं, इस सोपान में हम बतायेंगे। पति के लम्बे वियोग में अपनी शृंगारिक इच्छाओं की तृप्ति के लिए लालसा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। साधारण स्त्री तो झट इससे खिच जाती है और अपने चरित्र को गिरा देती है, लेकिन राजमती उन साधारण स्त्रियों में से नहीं थी। उसमें भरा पूरा यौवन था, इच्छाएँ प्रबल थीं। तो भी उसमें ऐसी शक्ति थी कि वह इन इच्छाओं को दबा कर उन पर काबू पा सके। उसकी कई उक्तियाँ ऐसी हैं जिसमें वह अपनी इच्छाओं और वासनाओं से संघर्ष करती हुई सी दीखती है। पति को अपना सन्देश भेजती हुई कहती है :—

जोवन के सिरि बाँधिया नेत।
जिरण बान्धिया रावरण षिस्यउ।

हे नाथ! मैंने यौवन के सिर पर शील का बन्धन बांध दिया है जिस बन्धन के बांधने से रावण गिर गया था। इसमें राजमती का कहना है कि मैं सीता देवी के समान शील और सदाचार का पालन कर रही हूँ।

रावण जैसा कोई दुष्ट पुरुष यदि मेरे पास आयेगा तो वह भी जल कर भस्म हो जायेगा। इसी आदेश के प्रसंग में आगे राजमती कहती है :—

कुल की रे बेटी सील जंजीर।
जोवन राषउं मइ चोर जिउं॥

हे नाथ! मैं कुलीन कन्या हूँ। शील-सदाचार की शृंखला में बंधी हूँ। इसलिये इस यौवन की चोर की भाँति रक्षा कर रही हूँ।

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि राजमती को अनेक प्रकार की इच्छाओं को दबाते हुये और अनेक संकटों का सामना करते हुए सदाचार की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य की असिधार पर चलना पड़ रहा है। एक बार की घटना है। विरहाकुल राजमती चिन्तामग्न बैठी थी। इसी समय एक अस्सी बरस की वयोवृद्ध कुटनी राजमती के पास आयी। गले लगा कर रोते हुए कहने लगी—

किउं दिन काटइ है भाणि जी।
रात दिवस मो नइ थारडी धसी।
तो नइ महा अपूरब करि द्युं मीत॥

हे भानजी! तू दिन कैसे काट रही है। रात-दिन मुझे तो तेरी ही चिन्ता रहती है। जब तक सांभर पति आवे, तुझको एक अपूर्व मित्र (जार) कर दूँ। यह सुन कर राजमती अंगार सी जल उठी। उससे वह कुछ नहीं बोली, सीधे उठकर अपने कमरे में गयी और एक पाठा उठा लाई। उसे बुढ़िया की पीठ पर जमाते हुए कहने लगी—

पेट फडावउं थारउ कूटणी।
कोकउं देवर अस बडउ जेठ॥
काडउं जीभ जिण बोलियउ।
नाक सरीसा काटउं दुनिउ होठ॥

हे कुटनी, मैं अभी तेरा पेट फड़वाती हूँ। ठहर मैं देवर और जेठ को बुलाती हूँ और तेरी यह जिह्वा निकलवाती हूँ, जिससे कि तूने ऐसी बात कही है। और नाक सहित दोनों ओठों को भी कटवाती हूँ।

यहाँ स्पष्ट ही राजमती की चारित्रिक दृढ़ता प्रशंसनीय है। कुटनी के साथ इस प्रकार का व्यवहार, साहस और सफाई का परिद्योतक है।

बारह वर्ष वियोग में बीत गये। समाचार मिला कि आज ही प्रिय भरतार आने वाला है। सन्तोष की एक लम्बी साँस भर कर अपने दिल को आश्वस्त करने लगी—

डलग पूगि घरि आवियउ भरतार ।
जाण करि उतरी समुंद कउ पार ।।
कलंक न कोइ सिर चडिउ ।
बाधतउ जोबन विरह की झाल ।।
लंछण को लागउ नहीं ।
पगि पगि सषीय व झंषियउ आल ।।

सेवा पूरी करके मेरा भर्तार आ रहा है। उसके प्रवास की इस लम्बी अवधि को सकुशल व्यतीत कर मानों मैं समुद्र के पार उतर गयी। बड़ी बात यह हुई कि इस अवधि में मेरे मत्थे कोई कलंक नहीं चढ़ा, इस बढ़ते हुए यौवन युक्त विरह की ज्वाला में कोई लांछन मेरे चरित्र पर नहीं लगा। भले ही लोगों ने पग-पग पर कलंकारोपण करने का प्रयास किया, लेकिन उनसे व्यथित न होकर मैं अपने निश्चय पर दृढ़ रही।

राजमती का अपने चरित्र पर दृढ़ आत्मविश्वास रखना उसके चरित्र को निष्पाप, निष्कलंक और निर्दोष तथा शुद्ध एवं पवित्र सिद्ध करने के लिए काफी है।

पद्मावत में नागमती के चरित्र-विकास का ऐसा कोई वर्णन नहीं है जिसमें किसी भी रूप में उसके चरित्र को उभारने का अवसर लाया गया हो। प्रायः इस पक्ष के नागमती को अछूता ही रखा गया है। हाँ, रत्नदेव के लौटने पर सौतिया-डाह और झक-झक का प्रसंग लाकर नागमती को अवश्य गिरा दिया गया है।

इस रूप में राजमती, सीता और दमयन्ती आदि के समान ही शुद्ध, स्तुत्य, चरित्र युक्त एवं समाज के लिये एक आदर्श नारी है।

पंचम सोपान

आत्मानन्द

इस सोपान में रहस्यवाद का सम्पुट हुआ है। कविबर श्री पंत की उक्ति यहाँ पूर्ण चरितार्थ होती है —

हां सखि आओ बाँह खोल कर
मिल कर गले जुड़ा लें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अन्तर्धान ॥

यहाँ राजमती आत्मा है और बीसलदेव परमात्मा है। देखिए, दोनों का मार्मिक मिलन कितना सुन्दर है। राजमती मोती पिहोती हुई अपने प्रिय के आगमन की मधुर स्मृतियों में खोई हुई है। इतने में सखियाँ आकर सूचित करती हैं कि कोई सन्देश-वाहक जोगना आया है। इतना सुनना था कि वह मुक्ति माला को उधर फेंक कर द्वार पर आ गयी। जोगना ने एक पाती दी। पाती लेकर तुरन्त वह चौखंडो पर चढ़ गयी और :—

चीरी रही गोरी गलई लगाइ।
जाणि करि बाछडइस्यु मिली गाइ ॥
नइणां थी लोही पडइ।
परिहसि सूनी भीनउ धइ हार ॥

चिट्ठी को राजमती ने गले लगा ली मानों बछड़े से गाय मिल रही हो। उसके नेत्रों से लहू गिर रहा है मानों काल के परिहास से रोती हुई वह अपना हार भिगो रही है।

इस पाती के प्रकरण में गोपियों की विकलता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है। यह प्रसंग पठनीय ही नहीं है, रोदनीय भी है। गोपियों को सूचना मिलती है :—

पाती मधुबन तैं आई।
ऊधौ हरि के परम सनेही ताके हांथ पठाई।

कृष्णसखा ऊधौ प्रियतम की पाती ले कर आये हैं, इतना सुनना था कि—

"अपने अपने गृह दौरीं, ले पाती उर लाई।"

सारी गोपियाँ अपने-अपने काम को जहाँ से तहाँ छोड़ कर दौड़

पड़ी, उन्हें अपनी स्थिति का ज्ञान न था। किसी के हाथ में मक्खन लगा है, किसी का हाथ दूध में भिगा है, किसी का हाथ गोबर से लतपत है तो किसी का हाथ आटे से पुता है। उनको न अपने वस्त्रों की चिन्ता है और न अपने केश-राशि की। पत्र को लेकर सभी अपनी छाती से लगा लेती हैं और—

"कोऊ पढ़ति, कोउ धरि नैनन, काहू हृदै लगाई।"

कोई उसको पढ़ने की चेष्टा करती है, कोई उसे अपनी आँखों को छुआती है, मानों यह देव पुष्प है। और कोई उसे हृदय से चिपका कर आह भर रही है और कोई बार-बार पूछती है, क्या कन्हैया ने स्वयं लिखा है :—

"कोऊ पूछति फिरि फिरि ऊधौ को आपुन लिखि कन्हाई।"

लेकिन हाय रे दुर्दैव :—

"नैन सजल कागद अति कोमल, कर अंगुली अति ताती।"

नयनों से अश्रुधारा बह रही है। इसी अश्रुधारा में गिर कर कोमल-पत्र घुला जा रहा है। आँखे पढ़ भी तो नहीं सकतीं! अश्रु-समूहों से उनकी पुतलियाँ आवृत हैं, मानों उजली-उजली बदरियों से ये तारे तिरोहित हैं। इधर हाथ भी "परसै जरै"—अग्नि कुञ्ज बने हैं। छूते ही 'भस्मान्तं शरीरम्' फिर पत्र का रहस्य कैसे मालूम हो? इस ब्रज में तो सब के सब बैल हैं। पत्र कौन पढ़ कर सुनाये? यहाँ तो मूर्खता का सर्व प्रभुत्व सम्पन्न गणराज्य है। इन बगुलों में ऊधौ ही हंस दीखता है, चलो उसी के शरण। तब ऊधौ—बाँचि सुनाई।

गोपियों की कितनी करुण दशा है! कितनी व्याकुलता, कितनी तल्लीनता है! यही रहस्यवाद में होता है।

अब आगे राजमती की व्याकुलता देखिए। जोगना ने कहा था कि प्रिय तीसरे दिन आयेंगे। तीन दिन जागते-जागते बीत गये। अन्त में नगाड़े बजने लगे। राजमती आनन्द-विभोर है। एक जगह उसके पैर नहीं टिक रहे हैं।

घरि आवियउ बीसल चहुआण।
घरिघरि रलिय बधामणी।
घरि घरि तोरण मंगलाचार॥
घरि घरि गूडी उछलई।
अब सषी घरि आवियउ मुंध भरतार॥

वह घूम-घूम कर सबसे कह रही है कि घर-घर बधावे बजाओ, घर-

घर में तोरण बाँधो, घर-घर में पताकायें उड़ाओ और घर-घर में मंगलाचार के गीत गाओ। देखिए, प्रिय के स्वागत की धूम-धाम तैयारी, उत्सुकता, आकर्षण और तल्लीनता—यही तो रहस्यवाद की पहली सीढ़ी है। आगे दूसरी सीढ़ी देखिए :—

हिव घरि आवियउ सइंभरि वार।
अरजन जिमि धण करइ सिणगार॥
भमुह कोवंड चंहो डिया।
नव कुच कूंच मेल्हिया षंचि॥
कंत पियारइ कारणइ।
तिण कारणि धण मेलिहया संचि॥

अब राजा बीसलदेव घर आ गया है। राजमती अर्जुन की भाँति श्रृंगार कर रही है। उसने भ्रू-चाप चढ़ा लिया है और कंचुक से नवांकुरित पयोधरों को बाणों के रूप में भ्रू-कोदंड पर चढ़ा कर अपने कन्त को लक्ष बना रही है। इस कोदंड और बाण को सँभाले वह वीर योद्धा अर्जुन के समान अपने प्रिय के धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में कूद गयी! उसके दशहरे का श्रृंगार पर्व देखिए,—

झूनो कउ उलपट झूना कउ ताव।
ठमकि ठमकि धण मेल्हतीय पाइ॥

वह झूने का दुपट्टा पहने है और झूने की ही चादर ओढ़े है। ठमक-ठमक कर चलने में झनक-झनक पायल बज रहे हैं। उसका भी नाट्य देखिए, :—

सूकड चन्दन भरीय कपोल।
संजत करि सैजइ चडी॥
तठइ सुगुणी सरिसी करइ किलोल।

श्वेत चन्दन उसने कटोरे में भर लिया है। सज-धज कर वह शैय्या पर आ गयी है और कामिनी-सी केलि करने लगी है :—

मुलकइ हसइ आलिंगन देइ।
पलिंग न बइसइ अनइ पान न लेइ॥

वह मुस्काती है, हँसती है और आलिंगन लेती है किन्तु न पलंग पर बैठती है और न प्रिय का दिया हुआ पान ही ग्रहण करती है। अपने प्रियतम को अनेक उलहाने देती है कि तूने बारह वर्षों तक मुझे क्यों छोड़ रखा था? देखिये, वे उलाहने कितने मधुर हैं :—

"तई तउ बार बरिस किंउ मेल्हीय नाह।"

ऐसे स्वामी का भरोसा मैं नहीं करती—

"नाह भरोसउ ना करूं ।"

यह तेरी ठसक और मुस्कुराहट मुझे अच्छी नहीं लगती । मुझ स्त्री के हृदय में हाथ न लगा :—

टसकला मुसकला मोनइ न सुहाई ।
धण कइ हियडलइ हाँथ में लाइ ॥

हे निर्मम प्रियतम :—

लाज नहीं प्रीय निर्ममा ।
म्हाकउ बारयउ तूं किंउ उलगइं जाइ ॥
बालउ रे बेस न देषही ।

तुम्हें लाज भी नहीं आती, मेरे मना करने पर भी तू क्यों चाकरी को गया ? तूने मेरे बाल-वय को तो कम से कम देखा होता ? वह कहती है—

उलग जाइ तइं किसउ कियउ नाह ।
स्वामी घी विणजियउ नइ कि जीमियो तेल ॥

तुमने चाकरी को जाकर कौन-सा बुद्धिमानी का कार्य किया है ? तुम्हारे तो भाग्य ही खोटे हैं । तुमने घी का व्यापार तो किया लेकिन तेल ही चाटते रहे । आखिर, कब तक वह अपने प्रिय से नखरेबाजी करती-रहती ? मात्र उलहाने से तो उन्हें अपनी ओर आकर्षित करना था । यह स्वाभाविक प्रक्रिया है कि अपने लक्ष पर कूदने से पहले पैंतेरेबाजी करनी पड़ती है । अन्त में 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पये' कहती हुई अपने को पति के चरण-कमलों में अर्पित कर देती है और :—

"अति रंग श्री राजा लीयउ टीप ।"

राजा बीसलदेव ने अत्यन्त उमंग से रहस्यवाद की चरम सीमा में अपनी प्रिया को अपने आलिंगन में बाँध लिया :—

"फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में हो जायें द्रुत अन्तर्धान ।"